

अहमेको खलु सुद्धो-मैं एक हूँ निश्चय से शुद्ध हूँ

धारा...46...ग्रंथांक (251)...

आध्यात्म बोध-गीताञ्जली

(बोध पाहुड़-आ. कुंदकुंद)
मूल हिन्दी-आर्यिका सुपार्श्वमती
(गद्य-पद्यमय)

-आध्यात्म विज्ञानी आचार्यश्री कनकनन्दीजी गुरुदेव

पुण्य स्मरण

ग.पु.कॉ., सागवाड़ा में दीर्घ शीतकालीन प्रवास व प्रवचनसार स्वाध्याय के पुण्य-स्मरणार्थ

अर्थ सौजन्य (ज्ञानदात्री)

1. गुंजन-सिद्धि (विवाह की प्रथम सालगिरह) विजयलक्ष्मी-कमल कुमार गोदावत, ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा
2. श्रीमती मधुबाला श्री सज्जनलाल जी जैन, ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा
3. दशमी व सप्तमी के उपवास उद्यापन के उपलक्ष्य में-गुंजन व डॉ. दामिनी गोदावत, ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा
4. श्रीमती ममता देवी श्री निलेश जी, रिद्धि, नमन संघवी
5. श्रीमती प्रेमलता श्री भरत जी शाह (मांडववाले), सेक्टर-11, उदयपुर
6. श्रीमती चन्दा देवी सुमतिलाल जी, ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा

ग्रन्थांक-251

प्रतियाँ-500

संस्करण-2016

मूल्य-101/- रु.

सम्पर्क सूत्र व प्राप्ति स्थान

आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव द्वारा आशीर्वाद प्राप्त

(1) धर्म-दर्शन सेवा संस्थान

द्वारा-श्री छोटूलाल जी चित्तौड़ा

चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर, आयड़, आयड़ बस स्टॉप के पास,

उदयपुर (राज.)-313001/मो. 097832-16418

(2) डॉ. नारायणलाल कछारा

सचिव-धर्म-दर्शन सेवा संस्थान

55, रवीन्द्रनगर, उदयपुर (राज.)-313001

फोन नं. 0294-2491422/मो. 092144-60622

E-mail:nlkachhara@yahoo.com

मेरी भावना व विपरीत जीव प्रति मंगल कामना

(सभी जीव सुखी व पावन बने ऐसी मेरी भावना के अनुसार यदि कोई न बने तो भी उसके प्रति कुभाव नहीं किन्तु मंगल भावना ही करूँ!)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : कहाँ भी नहीं, यहाँ ही सही...सुख-दुःख व जन्म-मरण (बंगला)....., तेरे प्यार का आसरा....., सायोनारा....., यमुना किनारे.....)

सतत विश्व कल्याण की मैं करूँ भावना...उदार निःस्वार्थमय शुभ भावना...

सभी जीव सुखी बने, बने मोक्षगामी...पाप ताप त्यागकर बने धर्मप्रेमी...

हिंसा झूठ चोरी व कुशील परिग्रह...क्रोध मान माया लोभ भय व मोह...

ईर्ष्या द्वेष घृणा व निन्दा अपमान...त्यागकर बने सभी शांत-शालीन...

अन्याय अत्याचार शोषण मिलावट...जमाखोरी भ्रष्टाचार आतंकवाद...

फैशन-व्यसन व दिखावा आडम्बर...त्यागकर सभी पाले पावन सदाचार...(1)...

संकीर्णता भेद-भाव वैर (व) विरोध...ऊँच-नीच तुच्छ भाव क्रूरता कुभाव...

समस्त विषमताएँ समस्या त्यागकर...सभी बने सत्यग्राही विनम्र उदार...

इसी हेतु भावना व मनन करता हूँ...लेखन प्रवचन ध्यान भी करता हूँ...

यदि कोई ऐसा बने प्रसन्न होता हूँ...अनुमोदना प्रशंसा व आशीर्वाद

/(सम्मान, पुरुस्कार) देता हूँ...(2)...

यदि कोई ऐसा सुभाव न करता...सद्व्यवहार उत्तम भावना न करता...

उससे भी मैं घृणा-द्वेष न करता...समता भाव से ही (उसका) मंगल चाहता...

सधर्मी-विधर्मी या स्वदेशी-विदेशी...किसी भी जाति पंथ मत भाषा-भाषी...

कीट-पतंग या पशु-पक्षी-मानव...सभी के प्रति ही ऐसा करता शुभ भाव...(3)...

अन्यथा संक्लेश ईर्ष्या द्वेष घृणा होते...भेदभाव पक्षपात वैर-विरोध होते...

अन्याय अत्याचार व विद्रोह होते...आक्रमण युद्ध आतंकवाद भी होते...

धर्म जाति पंथ मत भाषा राजनीति...काला गोरा व राष्ट्र विचार-धारा प्रभृति...

बलपूर्वक जब-जब थोपना होता है...रक्त-रंजित मानव तब-तब होता है...(4)...

तीर्थंकर बुद्ध ईसा मसीह आदि...ऐसी दुष्प्रवृत्ति में न करते प्रवृत्ति...

ऐसी प्रवृत्ति से ही मिलती मुझे शांति...अतः ऐसी प्रवृत्ति करे 'कनकनन्दी'...

नन्दौड़, दिनांक 26.11.2015, रात्रि 7.47

(मेरी स्वयं की भावना के साथ-साथ विश्व के संकीर्ण-कट्टर-क्रूर-दंभी मानव की कुप्रवृत्ति से पीड़ित होकर, शिक्षा लेकर, दया से द्रवित होकर यह कविता बनी।)

आत्म सम्बोधन

(मैं (स्वयं) के द्वारा मैं (स्वयं) को समझूँ
किन्तु अन्य प्रति संक्लेश न करूँ!)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : मन रे तू काहे न धीर धरे....., सायोनारा.....)

जिया रे! तू स्वयं को सही समझऽऽऽ

कौन क्या समझे...कौन क्या न समझेऽऽऽ इसका विकल्प त्यजऽऽऽ...(ध्रुव)...

सिद्धों को संसारी जीवऽऽऽ देख न पाते स्व-इन्द्रियों सेऽऽऽ

तथापि सिद्धों का अस्तित्वऽऽऽ न हो जाता अवास्तविकऽऽऽ

वे स्वयं में ही परिपूर्णऽऽऽ जिया रे...(1)...

अनादि काल से हर जीव मेंऽऽऽ अनंत कर्म आवृत्त हैंऽऽऽ

जिसके कारण हर जीव कीऽऽऽ होती अलग प्रवृत्ति हैऽऽऽ

यह शक्ति है कर्म कीऽऽऽ जिया रे...(2)...

सभी जीवों के भाव-व्यवहारऽऽऽ न होते एक समानऽऽऽ

हर जीव के भाव-व्यवहार भीऽऽऽ न होते सदा समानऽऽऽ

यह ही संसार स्वरूपऽऽऽ जिया रे...(3)...

अनंत जीव हैं अनंत भी कर्मऽऽऽ भाव भी होते तदनुकूलऽऽऽ

अनंत तीर्थकरों से भीऽऽऽ हुआ न सभी का उद्धारऽऽऽ

स्व का करो उद्धार अतःऽऽऽ जिया रे...(4)...

स्व-उद्धार तू पहिले करोऽऽऽ अन्य प्रति करो मंगल कामनाऽऽऽ

किन्तु अन्य हेतु न करोऽऽऽ स्वयं की ही आत्म विराधनाऽऽऽ

स्वयं को पावन बना रेऽऽऽ जिया रे...(5)...

तू तो चेतन अमूर्तिकमयऽऽऽ सच्चिदानंद तेरा रूपऽऽऽ
 तैरे स्वरूप को मोही न जानेऽऽऽ उन्हें क्या देना उपदेशऽऽऽ
 मोही का लक्ष्य अनात्म रेऽऽऽ/(तेरा लक्ष्य अध्यात्म रेऽऽऽ) जिया रे...(6)...

मोही तो अनात्म सत्ता-संपत्तिऽऽऽ प्रसिद्धि को माने अपनाऽऽऽ
 तन-मन-इन्द्रिय राग-द्वेष-मोह कोऽऽऽ नहीं जानता/(मानता) है अनात्माऽऽऽ
 उन्हें क्या तू देगा उपदेशऽऽऽ/(वे क्या जाने/(माने) तेरा उद्देश्यऽऽऽ) जिया रे...(7)...

स्व-प्रकाशी बनो सूर्य समऽऽऽ स्वयं ही फैले प्रकाशऽऽऽ
 अन्य से अप्रभावी बनो सूर्य समऽऽऽ मोह क्षोभ शून्य साम्यऽऽऽ
 साम्य ही तेरा स्वभावऽऽऽ/(‘कनक’ का निज स्वभावऽऽऽ) जिया रे...(8)...

नन्दौड़, दिनांक 27.11.2015, रात्रि 12.00 व प्रातः 5.57

आत्म सम्बोधन

(मेरी समता से यदि कोई स्वयं दुःखी-पापी हो तो मैं दोषी नहीं!)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : मन रे तू काहे न धीर धरे....)

जिया रे! तू आत्म कल्याण करोऽऽऽ

समता-शांति-निस्पृहता सेऽऽऽ आत्म विशुद्धि करोऽऽऽ(ध्रुव)...

राग-द्वेष-मोह-काम त्यागकरऽऽऽ समता भाव धरोऽऽऽ

ख्याति-पूजा-लाभ-तृष्णा त्यागकरऽऽऽ निस्पृह भाव धरोऽऽऽ

शान्ति से विशुद्धि करोऽऽऽ जिया रे...(1)...

इसी से तेरा होगा आत्म कल्याणऽऽऽ यह निश्चय करोऽऽऽ

अन्य सभी लंद-फंद त्यागकरऽऽऽ एकांत-मौन धरोऽऽऽ

‘अहं’ का ध्यान करोऽऽऽ जिया रे...(2)...

संकल्प-विकल्प-संक्लेश त्यागकरऽऽऽ निर्विकल्प साधना करोऽऽऽ

आकर्षण-विकर्षण-विभाव त्यागकरऽऽऽ विराग भाव धरोऽऽऽ

सरल-सहज बनोऽऽऽ जिया रे...(3)...

अन्य की चिन्ता व निन्दा त्यजकरऽऽऽ आत्मा का ध्यान करोऽऽऽ

कौन क्या माने-कौन क्या करे/(कहे)SSS इस से परे चलोSSS
स्वयं में स्वयं को तोलोSSS जिया रे...(4)...

स्वयं का कर्ता-भोक्ता स्वयं तूSSS स्वयं का उद्धार करोSSS
अन्य के अयोग्य व्यवहार के कारणSSS तू न अयोग्य/(कुभावी) बनेSSS
'अहं' में ही 'अहं' को पा लोSSS जिया रे...(5)...

तथापि यदि कोई तुझे निमित्त करSSS बने पापी व दुःखीSSS
उससे न होगा तेरा आत्म पतनSSS नहीं होगा पाप बंधनSSS
आत्म विशुद्धि के कारणSSS जिया रे...(6)...

आध्यात्मसार यह कर्म सिद्धांतSSS यह अलौकिक रहस्यSSS
मोक्षमार्ग यह मोह क्षोभ रहितSSS परम सकारात्मक भाव/(सुनियोजित लापरवाह)SSS
'कनक' का आत्म स्वभावSSS जिया रे...(7)...

नन्दौड़, दिनांक 25.11.2015, रात्रि 11.15
(यह कविता मुनि आध्यात्मनंदी के कारण बनी।)

चिदानन्द रूपं सिद्धोऽहं-शुद्धोऽहं-बुद्धोऽहं

-आचार्यश्री कनकनन्दी

(चाल : मन रे! तू काहे न धीर धरे.....)

जिया रे! तू स्वयं को सही समझोSSS
तन मन इन्द्रिय न तेरा रूपSSS तू तो सिद्ध स्वरूप/(चिन्मय रूप)SSS...(ध्रुवपद)..
तन मन इन्द्रिय तो जड़ रूपSSS कर्म पुद्गल जनितSSS
राग द्वेष मोह न तेरा रूपSSS ये तो विभाव रूपSSS
तू तो सच्चिदानन्द रूपSSS जिया रे!...(1)...

नोकर्म से बने तन व इन्द्रियSSS मनोवर्गणा से बने मनSSS
राग द्वेष मोह तो भाव कर्म हैSSS मोहनीय कर्म है नामSSS
कर्मातीत तेरा रूपSSS जिया रे!...(2)...

तद्भव मरण से तन-मन-अक्षSSS हो जाते हैं तुझसे पृथक्SSS
मोक्ष होने पर राग द्वेष मोहSSS हो जाते हैं तुझसे पृथक्SSS

तू तो शुद्ध-बुद्ध-आनंदऽऽऽ जिया रे!...(3)...

कर्मजनित विभाव भाव सेऽऽऽ मिलते हैं अनंत दुःखऽऽऽ

जन्म जरा मरण रोग शोकऽऽऽ संयोग-वियोग-दुःखऽऽऽ

तू अजर अमर शाश्वतऽऽऽ जिया रे!...(4)...

स्व को जानो स्व को मानोऽऽऽ स्वयं का ही सतत ध्यानऽऽऽ

समता शांति आत्म विशुद्धि सेऽऽऽ स्वयं का ही करो वरणऽऽऽ

स्वयं में ही करो रमणऽऽऽ/(यह ही है परिनिर्वाण)ऽऽऽ जिया रे!...(5)...

यह ही है तेरा परम स्वरूपऽऽऽ यह ही है तेरा स्वधर्म/(सुधर्म)ऽऽऽ

यह ही है तेरा परम कर्म/(शरण)ऽऽऽ यह ही है तेरा स्वतीर्थऽऽऽ

शुद्ध-बुद्ध-परमार्थऽऽऽ

सिद्धोऽहं...शुद्धोऽहं...बुद्धोऽहंऽऽऽ जिया रे!...(6)...

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 29.12.2015, प्रातः 6.35 से 7.08

(यह कविता श्रमणी सुवत्सलमती के कारण बनी।)

संदर्भ-

मगगणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।

विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया।। (13)

मार्गणागुणस्थानैः चतुर्दशभिः भवन्ति तथा अशुद्धनयात्।

विज्ञेयाः संसारिणः सर्वे शुद्धाःखलु शुद्धनयात्।। (द्रव्य संग्रह)

Again, according to impure (Vyavahara) Naya, Samsari Jivas are of fourteen kinds according to Margana and Gunasthana. But according to pure Naya, all jivas should be understood to pure.

संसारी जीव अशुद्ध नय से चौदह मार्गणा स्थानों से तथा चौदह गुणस्थानों से चौदह-चौदह प्रकार के होते हैं और शुद्धनय से तो सब संसारी जीव शुद्ध ही है।

शुद्ध निश्चय द्रव्यार्थिक नय से सिद्ध जीव तो शुद्ध है ही परन्तु संसारी जीव भी शुद्ध है क्योंकि शुद्ध निश्चय द्रव्यार्थिक नय केवल शुद्ध द्रव्य का ही ग्रहण करता है पर मिश्र अवस्थाओं को ग्रहण नहीं करता है क्योंकि इस नय का प्रतिपादित विषय शुद्ध द्रव्य ही होता है। अशुद्ध नय अर्थात् व्यवहार नय से संसारी जीव कर्म से संयुक्त हैं।

इस अवस्था में जीव के अनेक भेद-प्रभेद हो जाते हैं क्योंकि संसारी जीव अनंतानंत है और कर्म भी असंख्यात लोक प्रमाण हैं। इस अपेक्षा से संसारी जीव के भी संख्यात, असंख्यात और अनंत भेद हो जाते हैं तथापि समझने के लिए एवं समझाने के लिए एक सुव्यवस्थित प्रणाली को अपनाकर उसमें समस्त भेद-प्रभेदों को गर्भित किया जाता है। इस गाथा में आचार्यश्री ने संसारी जीवों के वर्गीकरण को मुख्य दो भेदों में किया है। (1) मार्गणा स्थान (2) गुणस्थान। मार्गणा स्थान के पुनः 14 अंतर्भेद हो जाते हैं और उस अंतर्भेद में भी अनेक प्रभेद होते हैं। इसी प्रकार गुणस्थान के 14 भेद होते हैं उन 14 भेद के भी अनेक प्रभेद हो जाते हैं।

1. मार्गणा-

जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।

ताओ चोहस जाणे सुण्णाणे मग्गणा होत्ति।। (141) गोमट्टसार जीवकांड जीव जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में खोजे जाते हैं-अनुमार्गण किये जाते हैं, उन्हें मार्गणा कहते हैं। जीवों का अन्वेषण करने वाली ऐसी मार्गणाएँ श्रुतज्ञान में चौदह कही गयी हैं।

चौदह मार्गणाओं के नाम

गइ इंदिसेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे च।

संजमदंसणलेस्सा भवियासम्मत्तसण्णिआहारे।। (142)

अरहंत भगवान् का स्वरूप

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ।

सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो।। (50)

नष्टचतुर्घातिकर्मा दर्शनसुखज्ञानवीर्यमयः।

शुभदेहस्थः आत्मा शुद्धः अर्हन् विचिन्तनीयः।।

That pure soul existing in an auspicious body, possessed of (infinite) faith, happiness, knowledge and power which has destroyed the four Ghatiya Karmas, is to be meditated on as an Arhat.

चार घातिया कर्मों को नष्ट करने वाला, अनंत दर्शन, सुख, ज्ञान और वीर्य का धारक, उत्तम देह में विराजमान और शुद्ध ऐसा जो आत्मा है वह अरिहंत है उसका ध्यान करना चाहिए।

अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख, अनंत वीर्य, अनंत विरति, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग और क्षायिक उपभोग आदि प्रगट हुए अनंत गुण स्वरूप होने से जिन्होंने यही पर सिद्ध स्वरूप प्राप्त कर लिया है, स्फटिकमणि के पर्वत के मध्य से निकलते हुए सूर्य बिंब के समान जो देदीप्यमान हो रहे हैं, अपने शरीर प्रमाण होने पर भी जिन्होंने अपने ज्ञान के द्वारा संपूर्ण विश्व को व्याप्त कर लिया है, अपने ज्ञान में ही संपूर्ण प्रमेय रहने के कारण प्रतिभासित होने से जो विश्वरूपता को प्राप्त हो गये हैं। संपूर्ण आमय अर्थात् रोगों के दूर हो जाने के कारण जो निरामय है, संपूर्ण पापरूपी अंजन के समूह के नष्ट हो जाने से जो निरंजन है और दोषों की कलाएँ अर्थात् संपूर्ण दोषों से रहित होने के कारण जो निष्फल है, ऐसे उन अरिहंतों को नमस्कार हो।

सिद्ध भगवान् का स्वरूप

णट्टुक्कम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्टा।

पुरिसायारो अप्पा सिद्धो ज्झाएह लोयसिहरत्थो।। (51)

नष्टाष्टकर्मदेहः लोकालोकस्य ज्ञायकः द्रष्ट।

पुरुषाकारः आत्मा सिद्धः ध्यायेत लोकशिखरस्थः।।

Meditate on the Siddha the soul which is bereft of the bodies produced by eight kinds of Karmas, which is the seer and knower of Loka and Aloka, which has a shape like a human being and which stays at the summit of the universe.

नष्ट हो गया है अष्ट कर्मरूप देह जिसके, लोकाकाश तथा अलोकाकाश का जानने देखने वाला, पुरुष के आकार का धारक और लोक के शिखर पर विराजमान ऐसा जो आत्मा है वह सिद्ध परमेष्ठी है इस कारण तुम उसका ध्यान करो।

अन्याकाराप्ति हेतु न च भवति परो, येन तेनाल्पहीनः।

प्रागात्मोपात्तदेह, प्रतिकृतिरुचिराकार एव ह्यमूर्तः।।

क्षुतृष्णाश्वासकास, ज्वरमरणजरानिष्ट योग प्रमोहः।

व्यापत्याद्युग्रदुःखप्रभवभवहतेः कोऽस्य सौख्यस्य माता।। (6)

जिस मनुष्य शरीर से यह जीव मुक्त होता है वह उस जीव का अंतिम शरीर कहलाता है। उसी को चरम शरीर कहते हैं। मुक्त होने पर इस जीव का आकार चरम शरीर के आकार से भिन्न आकार नहीं हो सकता, न तो वह समस्त लोक में व्यापक

हो सकता है और न वटवृक्ष के बीज के समान अणुमात्र ही हो सकता है। क्योंकि वहाँ आकार बदलने का कोई कारण नहीं है। किन्तु अंतिम शरीर के परिमाण से कुछ आकार कम होने का कारण है और वह यह है कि संसार परिभ्रमण में इस जीव का आकार कर्मों के उदय से बदलता था। अब कर्मों के नष्ट हो जाने से आकार बदलने वाला कोई कारण नहीं रहा तथा उसका परिमाण अंतिम शरीर से कुछ कम रहता है। क्योंकि शरीर के जिन-जिन भागों में आत्मा के प्रदेश नहीं है उतना परिमाण घट जाता है। शरीर के भीतर, पेट, नाक, कान आदि भाग ऐसे हैं जिनमें पोले भाग में आत्मा के प्रदेश नहीं हैं। इसलिये आचार्य कहते हैं कि अन्य ऐसे कारण हैं जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि मुक्त जीव का परिमाण अंतिम शरीर के परिमाण से कुछ कम है। यह कमी आकार की अपेक्षा से नहीं है लेकिन घन फल की अपेक्षा से है तथा मुक्त अवस्था में जीव का आकार अंतिम शरीर के समान अत्यंत दैदीप्यमान रहता है।

एव शब्द निश्चयवाचक है और हि शब्द स्पष्टता सूचित करने के लिए है, इससे सिद्ध होता है कि मुक्त अवस्था में जीव का आकार अंतिम शरीर के आकार समान है और उनका परिमाण अंतिम शरीर से कुछ कम है। मुक्त जीव का यह आकार और यह परिमाण निश्चित है, स्पष्ट है। इसके सिवाय अन्य कोई आकार तथा अन्य कोई परिमाण हो नहीं सकता। इसके सिवाय मुक्त अवस्था में वह शुद्ध आत्मा अमूर्तिक रहता है। रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द रूप पुद्गल परिणति को मूर्ति कहते हैं। ऐसी मूर्ति जिसके न हो उसको अमूर्ति कहते हैं। सिद्धों में रूप, रस, गंध, स्पर्श, रूप मूर्ति नहीं है। इसलिये वे अमूर्ति स्वरूप हैं अथवा अमूर्ति भी पाठ है जिनके रूप रसादि स्वरूप मूर्ति हो उनको मूर्त कहते हैं तथा जिनके ऐसी मूर्ति न हो उनको अमूर्त कहते हैं। उन सिद्ध परमेष्ठी की परिणति रूप, रस, गंध स्पर्श स्वरूप नहीं है इनसे सर्वथा रहित है इसलिए वे अमूर्त हैं।

इसके सिवाय वे भगवान् क्षुधा, तृषा, श्वास, कास, दमा ज्वर, मरण, जरा (बुढ़ापा) अनिष्ट योग, मोह अनेक प्रकार की आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं ऐसे संसार के परिभ्रमण को उन सिद्ध भगवान् ने नाश कर दिया है अथवा कर्मों के नाश होने से वह संसार अपने आप नष्ट हो गया है। उस संसार के नष्ट होने से सिद्धों को अनंत सुख की प्राप्ति हो गई है, उस सुख का परिमाण भला कौन कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं। सिद्धों का सुख अनंत है उनका परिमाण कभी किसी से नहीं हो सकता।

सिद्धों का सुख

आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतवाथं विशालं।

वृद्धिहासव्यपेतं, विषयविरहितं, निःप्रतिद्वंदभावम्॥

अन्यद्रव्यानपेक्षं, निरुपमममितं, शाश्वतं सर्वकालं।

उत्कृष्टानन्तसारं, परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्यजातम्॥ (7)

भगवान् सिद्ध परमेष्ठी के जो सुख होता है वह केवल आत्मा से ही उत्पन्न होता है। अन्य किसी प्रकृति आदि से उत्पन्न नहीं होता इसीलिये वह सुख अनित्य नहीं होता वह सुख स्वयं अतिशय युक्त होता है। समस्त बाधाओं से रहित होता है। अत्यंत विशाल वा विस्तीर्ण होता है। आत्मा के समस्त प्रदेशों में व्याप्त होकर कभी घटता है न बढ़ता है। वृद्धि और हास दोनों से रहित हो सांसारिक सुख विषय से उत्पन्न नहीं होता किन्तु सब प्रकार के विषयों से रहित स्वाभाविक होता है। सुख का प्रतिद्वंदी दुःख है। उन दुःखों-से मिला हुआ है। परन्तु सिद्धों का सुख सदा सुख रूप ही रहता है, जीवों का सुख, सातावेदनीय कर्म के उदय से होता है तथा पुष्पमाला चंदन, भोजन आदि बाह्य सामग्री से उत्पन्न होता है परन्तु सिद्धों का सुख उपमा रहित है, अनंत है। विनाश रहित है इसीलिये वह सदा बना रहता है। वह सुख परम सुख कहलाता है अर्थात् इन्द्रादिक के सुख से भी अत्यंत अतिशय युक्त वा बढ़कर है। जिन सिद्धों का लक्षण वा उनके गुण पहले निरूपण कर चुके हैं और जो लोकाकाश के अग्रभाग पर विराजमान हैं, ऐसे सिद्धों का अनंत सुख ऊपर लिखे अनुसार होता है। अभिप्राय यह है कि सिद्धों का सुख संसारी जीव के सुखों से अत्यंत विलक्षण है। सिद्धों का सुख वास्तविक सुख है और इसीलिये वह सर्वोत्तम है।

आत्म-संबोधन

स्व-पात्रता से मिलती उपलब्धियाँ

(स्व-कमियों के दूर से संभावनाएँ पूर्ण करूँ!)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : मन रे! तू काहे न धीर धरे.....)

आत्मा रे!SS तू काहे विकल्प/(संक्लेश) करेSSS

तेरे अंदरSS अनंत शक्ति/(संभावना)SS बीज रूप में भरे!SSS आत्मा रे!...(ध्रुव)...

अंकुर यथा..बनता है वृक्षऽऽऽ तुष को पार करऽऽऽ
 तथाहि तू स्व-कमियों को पार करऽऽऽ हो स्वयं संपूर्णऽऽऽ
 कमियों को दूर करोऽऽऽ/(पूर्णता को प्राप्त करोऽऽ)...आत्मा रे!...(1)...
 चुंबक यथा स्व-शक्ति सेऽऽऽ लोहा को आकर्षित करेऽऽऽ
 अधिक शक्ति से अधिक करेऽऽऽ ऐसा ही तू भी करोऽऽऽ
 स्व-शक्ति सम्वर्द्धन करऽऽऽ/(दुर्बलता दूर करोऽऽ)...आत्मा रे!...(2)...
 दीपक यथा प्रकाशित होकरऽऽऽ तम को दूर करेऽऽऽ
 अन्य दीपकों को भी प्रज्ज्वलित करेऽऽऽ तथाहि तू भी करोऽऽऽ
 स्व-प्रकाशी बन रे!/(हे)ऽऽऽ/(स्व-पर प्रकाश करोऽऽ)...आत्मा रे!...(3)...
 तेरी संभावनाएँ पूर्ण तब होगीऽऽऽ जब तू योग्य बनोगेऽऽऽ
 तेरी योग्यता से संभावनाएँऽऽऽ प्रगट भी तत्काल होंगेऽऽऽ
 सर्वज्ञ घातिनाश समऽऽऽ/(कर्मक्षय से सिद्ध समऽऽ)...आत्मा रे!...(4)...
 सत्य-समता-शांति तत्काल पाओगेऽऽऽ तद्योग्य जब तू होंगेऽऽऽ
 आदर सत्कार पूजा योग्य तू बनोऽऽऽ तेरे लिए सहज ये होंगेऽऽऽ
 पात्र तू स्वयं ही बनोऽऽऽ/(संकल्प-विकल्प/(संकलेश त्यजोऽऽ)...आत्मा रे!...(5)...
 तुझे कोई भी कुछ नहीं देगेऽऽऽ स्व-योग्यता से ही मिलेंगेऽऽऽ
 चक्रवर्ती पद भीख से न मिलेऽऽऽ स्व-पुण्य/(योग्यता) से सहज मिलेऽऽऽ
 स्वयं को योग्य बनाओऽऽऽ/(अयोग्यता दूर करोऽऽ)...आत्मा रे!...(6)...
 तीर्थंकर पद महान् उपलब्धिऽऽऽ मिले स्व-भाग्य/(पुण्य)/(पुरुषार्थ) सेऽऽऽ
 महान् उपलब्धियों को पाना तेरा (भी)ऽऽऽ स्वभावगत अधिकारऽऽऽ
 कनक स्वभाव वर रेऽऽऽ/(शुद्ध-बुद्ध आनंद भरपूरऽऽ)...
 ...आत्मा रे! तू काहे विकल्प करेऽऽऽ...(1)...

ग.पु.कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 31.12.2015, मध्याह्न 1.13 (ईसाई नवीन वर्ष)

मेरे महान् उपकारी/मेरी महान् उपलब्धि

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : आये हो मेरी जिन्दगी में.....)

आये हो मम जीवन में...उपकारी श्रेय बन केऽऽऽ

देव-आगम-गुरु व...आत्म-धर्म बन केSSS आये हो...(ध्रुवपद)...

देव हैं मेरे लक्ष्य...शास्त्र पथ प्रदर्शक...

गुरु हैं आदर्श मेरे...स्वरूप आत्म धर्म...

मुझमें ही मुझे पाना...देवशास्त्र गुरु पा के...देव-आगम...(1)...

मुझमें ही मेरे धर्म...बीज में वृक्ष सम...

देवशास्त्र गुरु मेरे...भूमि पानी हवा सम...

जीव से जिन बनूँ मैं...त्रय संगति को पा के...देव-आगम...(2)...

हो रहा मेरा विकास...श्रद्धा-प्रज्ञा-चर्या में...

सत्य-समता-शांति...ध्यान व अध्ययन में...

निराडम्बर-निस्पृह...आत्मा की विशुद्धि में...देव-आगम...(3)...

अभूतपूर्व लाभ मिला...जो इन्द्र को भी दुर्लभ...

त्रिलोक सम्पदा से (भी)...क्रय नहीं है संभव...

'कनक' हुआ है धन्य...निज स्वभाव पा के...देव-आगम...(4)...

ग.पु. कालोनी, सागवाड़ा, दिनांक 31.12.2015, मध्याह्न 3.00

मेरी-भावना व साधना

(अन्य के कारणों से भी मैं सत्य-समता-शांति न त्यागूँ)

(अन्य के दोषों से भी मैं अप्रभावित रहूँ)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : तेरे प्यार का (एकांत मौन में.....))

सत्य समता (शांति) में मैं जीना चाहता हूँ,

राग द्वेष मोह को (मैं) त्यागना चाहता हूँ।

उदार सहिष्णुता में (मैं) जीना चाहता हूँ,

ईर्ष्या-तृष्णा-निन्दा (घृणा) को त्यागना चाहता हूँ। (ध्रुव)

सत्य-असत्य को मैं जानना चाहता हूँ,

गुण-दोष सभी का भी जानना चाहता हूँ।

हिताहित विवेक मैं रखना चाहता हूँ,

तथापि समता शांति से जीना चाहता हूँ। (1)
 अरिहंत-सिद्ध सम (मैं) होना चाहता हूँ,
 पूर्ण नहीं तो यथायोग्य होना चाहता हूँ।
 गुण-दोषों को अरिहंत (सिद्ध) जानते सभी के,
 तथापि समता में ही रहते निज में। (2)
 अनंत हैं जीव विश्व में अनंत भी कर्म,
 विचित्र भी भाव-व्यवहार जीव में।
 गुण-दोष जानना सम्यग्ज्ञान (का) स्वभाव,
 समता-शांति में रहना भी मेरा (शुद्ध) स्वभाव। (3)
 इनके कारण यदि राग-द्वेष करूँगा,
 ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा-निन्दादि करूँगा।
 मुझमें भी पाप बंध होगा (ही) अवश्य,
 दूसरों से परिचालित (मैं) होऊँगा अवश्य। (4)
 दूसरों के कारण मैं क्यों पापी बनूँगा?
 दूसरों के कारण क्यों संसार (में) दुःख सहूँगा?
 दास सम अन्य से क्यों परिचालित होऊँगा?
 मैं तो स्वतंत्र जीव स्व-चालित होऊँगा। (5)
 मेरा मालिक मैं ही सदा ही रहूँगा,
 स्व का कर्ता-धर्ता-भोक्ता भी रहूँगा।
 स्व-शुद्ध-बुद्ध आनंद (का ही) भोग करूँगा,
 'कनक' स्व-शुद्धात्मा (में लीन रहूँगा)/का ध्यान करूँगा। (6)
 ग.पु.कों., सागवाड़ा दिनांक 05.01.2016, रात्रि 2.50 से 3.30

स्वात्मा (मैं) के परिज्ञान से तत्काल व आगामी कालीन लाभ

-आचार्य कनकनन्दी

(राग : तुम दिल की धड़कन....., छोटी-छोटी गैया.....)

जब होता परिज्ञान श्रद्धा प्रज्ञा से, आगम अनुभव व विविध नयों से/(गुरुपदेश से)।

निश्चय से मैं हूँ शुद्ध-बुद्ध-आनंद, कर्मबंध से बना हूँ संसारी जीव।। (1)
 शक्ति रूप से अभी भी हूँ सच्चिदानंद, स्वयंभू सनातन व अनादि-अनिधन।
 मौलिक स्वतंत्र हूँ मैं स्वयं में पूर्ण, अनंत गुणयुक्त हूँ मैं चैतन्यपूर्ण/(अमूर्तमय)।। (2)
 इसी से परिज्ञान हो जाता अनात्मभाव, तन-मन-इन्द्रियादि भी न मेरा स्वभाव।
 राग-द्वेष-मोहादि न मम स्वरूप, ये सब कर्मजनित है विभाव/(अशुद्ध) रूप।। (3)
 तथाहि सत्ता-संपत्ति प्रसिद्धि आदि, शत्रु-मित्र भाई-बंधु कुटुम्ब आदि।
 सर्व सचित्त-अचित्त मिश्र परिग्रह, नहीं है ये सभी मेरा शुद्ध स्वभाव।। (4)
 इसी से भाव में होता महान् परिवर्तन, आत्म उपलब्धि का होता लक्ष्य महान्।
 सांसारिक (क्षुद्र) उपलब्धि का न होता लक्ष्य, राग-द्वेष-मोहादि से होता विरक्त
 / (विमुख)।। (5)

सत्ता संपत्ति प्रसिद्धि में न होता मोह, होती है श्रद्धा व प्रज्ञा विवेक सह।
 भोगाकांक्षा व निदान से होता विरक्त, मैत्री-प्रमोद कारुण्य व माध्यस्थ चित्त।। (6)
 प्रशम अनुकम्पा व आस्तिक्य संवेग, उदार सहिष्णु अनेकांत स्वभाव।
 संवेदनशीलता न होती आध्यात्म निष्ठा, भौतिक उपलब्धि से न माने प्रतिष्ठा।। (7)
 सकारात्मक विचार अति महान् होता, शुद्ध-बुद्ध परमात्मा होने का होता।
 सांसारिक हानि-लाभ से परे हो जाता, दीन-हीन-अहंकार से परे हो जाता।। (8)
 पर से अप्रभावित आत्मविश्वासी होता, समता-शांत व सहिष्णु भी होता।
 संक्लेश-द्वंद्व से भी रहित होता, आत्म संतोषमय आनंद होता।। (9)
 सातिशय पुण्य का भी आस्रव होता, अशुभ भाव का भी निरोध होता।
 श्रमण बनकर सर्व कर्म क्षय करता, अनंत अक्षय सुख को प्राप्त करता।। (10)
 अतएव आध्यात्मिक ही परम श्रेय, सर्व सुख प्राप्ति के श्रेष्ठतम उपाय।
 आत्मा/(स्वयं) की उपलब्धि ही है परिनिर्वाण, इसी हेतु 'कनकनन्दी' बना श्रमण।। (11)

नन्दौड़, दिनांक 04.10.2015, रात्रि 1.10

संदर्भ-

गुरुपदेशादभ्यासात्संवित्तैः स्वपरान्तरम्।

जानाति यः स जानाति, मोक्षसौख्यं निरन्तरम्।। (33) इष्टे.

जो गुरु के उपदेश से अभ्यास करते हुए यह आत्मा, उत्कृष्ट एकाग्रता को प्राप्त कर लेता है और इसी तरह मन तथा वाणी के अगोचर अथवा वचनों से भी नहीं कहे जाने वाले स्वाधीन आनंद को प्राप्त कर लेता है।

तदेवानुभवंश्चायमेकाग्रं परमृच्छति।

तथात्माधीनमानन्दमेति वाचामगोचरम्॥ (170) तत्त्वानुशा.

उस आत्मा का अनुभव करता हुआ यह आत्मा, उत्कृष्ट एकाग्रता को प्राप्त कर लेता है और इसी तरह मन तथा वाणी के अगोचर अथवा वचनों से भी न कहे जा सकने वाले स्वाधीन आनंद को प्राप्त कर लेता है।

स्वस्मिन् सदाभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।

स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः॥ (34) इष्टे.

स्वयं स्वस्मिन् सदाभिलाषित्वात् अभीष्टज्ञापकत्वतः हितप्रयोक्तृत्वात् आत्मनः आत्मा एवं गुरु अस्ति।

जो सत् का कल्याण का वांछक होता है, चाहे हुए हित के उपायों को जतलाता है तथा हित का प्रवर्तक होता है, वह गुरु कहलाता है। जब आत्मा स्वयं ही अपने में सत् की कल्याण की यानि मोक्ष-सुख की अभिलाषा करता है, अपने द्वारा चाहे हुए मोक्ष-सुख के उपायों को जतलाने वाला है तथा मोक्ष-सुख के उपायों में अपने आपको प्रवर्तन कराने वाला है, इसलिये अपना (आत्मा का) गुरु आप (आत्मा) ही है।

यथा यथा समायांति संवित्तो तत्त्वमुत्तमम्।

तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि॥ (37) इष्टे.

ज्यों-ज्यों संवित्ति (स्वानुभव) में उत्तम तत्त्वरूप का अनुभवन होता है, त्यों-त्यों उस योगी को आसानी से प्राप्त होने वाले भी विषय अच्छे नहीं लगते।

आचार्यश्री की प्रतिज्ञा व ससंघ के नियम
मेरे (आ. कनकनन्दी)
एकांत-मौन-समता-निस्पृहता के कारण
(मुझे परम सत्य व स्वात्मा (मैं) की उपलब्धि चाहिए)
(मैं (आ. कनकनन्दी) 5 प्रकार के स्वाध्याय
के अतिरिक्त प्रायः मौन रखता हूँ)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : तेरे प्यार का आसरा.....)

परम सत्य को मैं जानना चाहता हूँ...उसी हेतु शोध-बोध-चर्चा चाहता हूँ...
ध्यान-अध्ययन व मनन-चिन्तन...लेखन-प्रवचन व प्रचार चाहता हूँ...(स्थायी)...
परम सत्य में भी स्व-तत्त्व चाहता हूँ...चिदानंदमय आत्म तत्त्व चाहता हूँ...
शुद्ध-बुद्ध-परमानंद को चाहता हूँ...समता शांति व निस्पृहता चाहता हूँ...
ख्याति पूजा लाभ व द्वंद्व-फंदों से...राग द्वेष मोह व ईर्ष्या तृष्णा से...
संकीर्ण भेद-भाव पंथ व मतों से...अतः दूर रहता हूँ वाद-विवादों से...(1)...
आडम्बर ढोंग व दिखावा काम से...सत्ता-संपत्ति व प्रसिद्धि नाम से...
संकीर्ण जाति भाषा समाज राष्ट्र से...दूर ही रहता हूँ मैं संक्लेश कामों से...
सर्वजन प्रसिद्ध ज्ञान व विज्ञान से...संकीर्ण कट्टर रूढ़ि परम्पराओं से...
लोकानुरञ्जन व भीड़ जुटाने से...दूर ही रहता हूँ (मैं) संकीर्ण स्वार्थ से...(2)...
परनिन्दा अपमान चिन्ता विवादों से... कर्तृत्व हस्तक्षेप व दादागिरी से...
छिद्रान्वेषण परोपदेशी पाण्डित्य से...दूर ही रहता हूँ गृहस्थ कार्यो से...
उक्त विषय संबंधी प्रश्न के उत्तर से...दूर रहता हूँ मैं गर्हित वचनों से...
अप्रिय कठोर युक्त अहित वचन से...वाद-विवाद कर तुच्छ वचनों से...(3)...
अनात्म अहितकर समस्त कामों से...दूर रहता हूँ मैं मन वचन काय से...
करना कराना तथा अनुमति से...दूर रहता हूँ मैं स्व-पर अहित से...
सांसारिक सभी काम अनंत बार किया...आत्म-उपलब्धि एक बार भी न किया...
संसार के सभी काम त्यागता हूँ भाव से... 'कनक' स्व-उपलब्धि हेतु प्रयत्न भाव से...(4)...

नन्दीड़, दिनांक 29.11.2015, रात्रि 7.45

संदर्भ-

निशामयति निःशेषमिन्द्रजालोपमं जगत्।

स्पृहयत्यात्मलाभाय, गत्वान्यत्रानुत्पद्यते।। (39) इष्टोपदेश

इच्छत्येकान्तसंवासं, निर्जनं जनितादरः।

निजकार्यवशात्किञ्चिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम्।। (40) इष्टोपदेश

मेरी कहानी जो माँ जिनवाणी से जानूँ

-आचार्य कनकनन्दी

रूपान्तरकर्ता-श्रमण मुनि सुविज्ञसागर

(चाल : माँ मुझे अपने आँचल में छिपा ले.....)

माँ मुझे सुनाओ मेरी कहानी...मेरे 'मैं'/(स्व, निज) की कहानी...

सर्वज्ञ प्रभु ने है जो जानी...(स्थायी)...

मेरी ये व्यथा अन्य कोई न जाने...तुझे छोड़कर अन्य कोई न जाने...

वैज्ञानिक-दार्शनिक/(कथाकार) भी न जाने...

मुझे न सुनना/(चाहिए) अन्य की कहानी...मेरे मैं की कहानी...(1)...

मेरी कहानी हेतु कहो अन्य कहानी...मुझ संबंधी कहो है आपकी जुबानी...

समय नहीं सुनने को अन्य की कहानी...

मेरी कहानी (तो) अभी तक पूरी न जानी...मेरे निज की कहानी...

...मेरे निज की कहानी...(2)...

जिनवाणी माँ मेरी सुना रही कहानी...अनादि अनंत भवों की कहानी...

मेरा अस्तित्व है अनादि कालीन...

अनंत तक रहेगी अस्तित्व (की) कहानी...मेरे स्व की कहानी...(3)...

चारों गतियों की ये मेरी कहानी...लाख चौरासिया योनि की कहानी...

पञ्च परिवर्तन की दीर्घ ये कहानी...

उत्थान-पतन की ये मेरी कहानी...मेरे निज की कहानी...(4)...

उत्सर्पिणी के काल में भी मैं रहा हूँ...अनंत अवसर्पिणी काल में भी रहा हूँ...

भोगभूमि में भी व कर्मभूमि में...

अनंतानंत काल चक्र (में) घुमानी/(घुमाई)...मेरे स्व की कहानी...(5)...

हर जीवों से मेरा हुआ संबंध...जन्य-जनक भाई-बंधु संबंध...
 शत्रु-मित्र आदि हर संबंध...
 भक्ष-भक्षक संबंध की भी ये कहानी...मेरे निज की कहानी...(6)...
 ऐसी विचित्र है ये मेरी कहानी...नाटक-सिनेमा से परे ये कहानी...
 काल्पनिक-तिलस्मी से भी परे कहानी...
 उत्थान-पतन/(विकास-विनाश) की ये मेरी कहानी...मेरे मैं की कहानी...(7)...
 सभी खाया व सभी पीया भी...भोग-उपभोग सभी किया भी...
 किन्तु अभी तक एक काम न किया भी...
 स्वयं की उपलब्धि अभी तक न करानी/(कराई)...मेरे स्व की कहानी...(8)...
 अभी जानूँ स्वयं को तथाहि मानूँ...स्वयं की प्राप्ति हेतु प्रयास करूँ...
 मैं तो शुद्ध-बुद्ध-आनंद स्वरूपी...
 राग-द्वेष-मोह-काम रिक्त कहानी...मेरे निज की कहानी...(9)...
 इसी हेतु सतत प्रयत्नरत हूँ...ध्यान-अध्ययन इसी हेतु करूँ हूँ...
 समता-शांति भी इसी हेतु धारूँ...
 कथा करे 'कनक' स्वयं की सदा ही...मेरे मैं की कहानी...(10)...
 माँ मुझे सुनाओ मेरी कहानी...मेरे मैं/(स्व, निज) की कहानी...
 सर्वज्ञ प्रभु ने है जो जानी...

नन्दौड़, दिनांक 08.12.2015, मध्याह्न 3.05

मेरा लक्ष्य मुझे अवश्य प्राप्त होगा

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : तेरे प्यार का....., एकांत मौन.....)

महान् लक्ष्य को मैं पाना चाहता हूँ, अभी आंशिक तो आगे पूर्ण चाहता हूँ।
 स्वयं को मानना, जानना चाहता हूँ, पूर्ण रूप से स्वयं को पाना चाहता हूँ।। (ध्रुव)
 इसी हेतु मैं स्वयं का विश्वास करता हूँ, सच्चिदानंदमय मैं (स्व) को मानता हूँ।
 मेरा ही ज्ञान मैं सदा करता हूँ, मुझे ही प्राप्त हेतु (मैं) यत्न करता हूँ।
 यही है मेरा परम पावन लक्ष्य, अन्य सभी इसी हेतु होते प्रयुक्त।
 ध्यान-अध्ययन-तप-त्याग-संयम, यम-नियम व लेखन-प्रवचन।। (1)

(भले) द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अभी नहीं उत्तम, जिससे लक्ष्य प्राप्ति की गति होती जघन्य।
तथापि लक्ष्य मेरा पास (में) आ रहा है, लक्ष्य का व्यवधान (मेरा) घट रहा है।

सुयोग्य बीज यथा होता अंकुर, धीरे-धीरे उसका बढ़ता शरीर।

योग्य शरीर ऋतु (को) प्राप्त होकर, पुष्पित फलप्रद होगा अंकुर।। (2)

ऐसी ही परिणति (भी) होती आत्मा में, आत्म विशुद्धि से गुणस्थान बढ़े स्वयं में।

इन्द्रिय ज्ञानातीत होती ये गति, आत्मानुभव से यह होती प्रतीति।

यथा चित्र लेखन या बाण अनुसंधान (में), तथा चित्त में लक्ष्य का होता निर्धारण।

तथाहि मोक्ष का निर्धारण होता चित्त में, मोक्ष की उपलब्धि (भी) होती स्वयं में।। (3)

अन्य भव्य भी पाये (हैं) ऐसा ही लक्ष्य/(मोक्ष), सर्वज्ञ कथित यह आगम में लिखित।

निकट भव्य निश्चय से पायेंगे मोक्ष, आत्म उपलब्धि ही 'कनक' का परम लक्ष्य।। (4)

महान् लक्ष्य को मैं.....

नन्दौड़, दिनांक 30.11.2015, रात्रि 8.05

यह कविता 'मन की शक्ति' मैक्सवैल माल्ट्ज से भी प्रभावित है।

आध्यात्मिक एक : मुझे मिल रहे लाभ अनेक

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : तेरे प्यार का आसरा.....)

आध्यात्मिक से विविध लाभ हो रहे हैं...आत्मविश्वास मेरा अगाध हो रहा है...

ज्ञान में भी वृद्धि मेरी हो रही है...आचरण भी सम्यक् मेरा हो रहा है...(स्थायी)...

इसी से ही मुझे मिली श्रद्धा व प्रज्ञा...मैं हूँ जीव द्रव्य मुझमें अनंत प्रज्ञा...

अनादि अनंत मैं हूँ सच्चिदानंद...अनंत दर्शन ज्ञान सुख व वीर्य...

राग द्वेष मोह व काम क्रोध रिक्त...ईर्ष्या तृष्णा घृणा क्षुधा तृषा रिक्त...

जन्म जरा रोग व मृत्यु से रिक्त... तन मन इन्द्रिय दिमाग (ब्रेन) रिक्त...(1)...

आत्मविश्वास मेरा इससे बढ़ रहा है...दीन-हीन अहंकार भी हट रहे हैं...

समता शांति निस्पृहता आ रही है...क्षमा सहिष्णुता विरागता आ रही है...

तेरा-मेरा भेद-भाव भी मिट रहे है...ख्याति पूजा लाभ भी घट रहे है...

संकल्प-विकल्प-संक्लेश छूट रहे है...ध्यान-अध्ययन मेरे बढ़ रहे है...(2)...

शोध-बोध व अनुभव बढ़ रहे हैं...गद्य-पद्य लेखन भी बढ़ रहे हैं...
 अध्यापन व ज्ञानदान भी बढ़ रहे हैं...नये-नये चिंतन भी हो रहे हैं...
 आत्म विशुद्धि भी मेरी बढ़ रही है...आत्मानंद की अनुभूति बढ़ रही है...
 एकाग्रता संतुष्टि तृप्ति हो रही है...चारित्र की विशुद्धि अतः हो रही है...(3)...

अन्य से ये सब लाभ होना न संभव...सत्ता-संपत्ति-डिग्री से भी नहीं संभव...
 ख्याति पूजा लाभ से भी नहीं संभव...इसीलिए 'कनक' को आध्यात्मिक श्रेय/(प्रिय)...
 राजनीति विज्ञान संकीर्ण पंथ/(धर्म) से...दिखावा आडम्बर युक्त क्रियाकाण्डों से...
 तर्क-वितर्क व वाद-विवाद से...संभव नहीं है परोपदेशी पाण्डित्य से...(4)...

नन्दौड़, दिनांक 01.12.2015, रात्रि 10.00

(इस कविता संबंधी विशेष परिज्ञान हेतु कविकृत प्रायः 400-500 आध्यात्मिक कविताएँ सत्य साम्य सुखामृतम् आदि पठनीय।)

रत्नत्रय ही है मेरा परम-वैभव

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : पायोजी मैंने राम-रत्न धन पायो.....)

पायोजी ! मैंने रत्नत्रय धन पायो !

जिस रत्न हेतु चक्रवर्ती भी चौदह रत्न वैभव त्यागो॥ (ध्रुव)

आत्म श्रद्धान है पहला रत्न, स्वयं को मानूँ मैं शुद्ध-बुद्ध।

द्रव्य भाव नोकर्म से रहित, मैं हूँ सच्चिदानंद रूप॥

व्यवहार से श्रद्धान मेरा षट् द्रव्य, नव पदार्थ का स्वरूप।

इनके कारणभूत मेरा श्रद्धान, सच्चे देव-शास्त्र गुरु रूप॥ (1) पायोजी...

यह ही श्रद्धान यह ही प्रतीति, यह ही है आत्मविश्वास।

लौकिक जनों के आत्मविश्वास से, होता है पूर्ण विशेष॥

लौकिक जन तो शरीर मन (पर) मैं, करते हैं आत्मविश्वास।

मैं तो शरीर व मन से परे, करूँ स्व चैतन्य विश्वास॥ (2) पायोजी...

द्वितीयरत्न है सम्यग्ज्ञान जो, आत्मविश्वास के अनुकूल।

ज्ञान-ज्ञेय, हेय-उपादेय जानकर, आत्मा को करूँ अंगीकार/(स्वीकार)॥

इसी हेतु भेद-विज्ञान करूँ, अणु से लेकर लोकालोक।
 विज्ञान से लेकर आध्यात्मिक तक, स्व-मत परमत (व) लौकिक॥ (3) पायोजी...
 श्रद्धान-ज्ञानयुक्त भावना करूँ, शक्ति अनुसार आचरण।
 पर-स्वरूप व विभाव त्याग हेतु, करूँ सम्यक् आचरण॥
 राग-द्वेष मोह काम क्रोध त्यागूँ, ईर्ष्या तृष्णा संक्लेश।
 ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि त्याग (कर), करूँ आत्मा को विशुद्ध॥ (4) पायोजी...
 समता शांति निस्पृहता धरूँ, करूँ मैं मौन साधना।
 आत्म विशुद्धि आत्मानुभव करूँ, पाने हेतु ज्ञान चेतना॥
 तीन रत्नों को मैं अभेद रूप से, स्वयं में ही करूँ अनुभव।
 रत्नत्रय ही है मेरा स्वरूप, 'कनक' का परम शुद्ध भाव॥ (5) पायोजी...

नन्दौड़, दिनांक 07.12.2015, प्रातः 7.47

सिद्ध भगवान् से मुझे प्राप्त परम सुख के सूत्र

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : भावे बन्दू तो अरिहंत....., तुम दिल की धड़कन.....)
 तन-मन-अक्ष से रहित भगवान्, भोगोपभोग रिक्त सिद्ध भगवान्।
 सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि रहित होकर, अनंत सुख सम्पन्न सिद्ध भगवान्॥ (ध्रुव)
 इसी से सिद्ध (होता) सुख आत्म स्वभाव, शरीर मनादि तो है जड़ स्वभाव।
 जड़ में न होता सुख वह तो अजीव रूप, अजीव में न होता सुख चैतन्य भाव॥ (1)
 सिद्ध का सुख तो पूर्ण चैतन्यमय, चैतन्य ही होता सुख ज्ञान स्वभाव।
 सिद्ध का सुख अतः आत्म आश्रित, पराधीन रहित स्व आधीन युक्त॥ (2)
 राग द्वेष मोह रिक्त होते हैं सिद्ध, ईर्ष्या घृणा तृष्णा से भी रहित सिद्ध।
 काम क्रोध मद रिक्त होते हैं सिद्ध, अनंत सुख सम्पन्न होते सिद्ध॥ (3)
 इसी से सिद्ध होता सुख विभाव रिक्त, विभाव तो विकृति न आत्म स्वभाव।
 विभाव शून्य से होता स्वभाव प्रगट, स्वभाव ही है सुख रूप विभाव दुःख॥ (4)
 जन्म-जरा/(मृत्यु) रोग मुक्त सिद्ध स्वरूप, क्षुधा तृषा रूजा मुक्त सिद्ध स्वरूप।
 खाना पीना सोना रिक्त सिद्ध स्वरूप, अनंत सुखमय सिद्ध स्वरूप॥ (5)

इसी से सिद्ध होता सुख न जन्मादि रूप, खाना पीना सोना भी न सुख स्वरूप।
ये सभी तो संयोग वियोग रूप, सुख तो आत्म स्वभाव ध्रुव स्वरूप॥ (6)

ख्याति पूजा यशोगान प्रसिद्धि परे, अर्चना वंदना व प्रार्थना परे।
स्तुति प्रणाम नमोऽस्तु भी परे, अनंत सुखी सिद्ध स्तवन परे॥ (7)

इसी से सिद्ध (होता) सुख अपेक्षा परे, अनुशंसा प्रशंसा प्रोत्साहन परे।
प्रशस्ति पुरस्कार समर्थन परे, आत्मलीन स्वानुभव (है) सुख विकल्प परे॥ (8)

सिद्ध भगवान् से मुझे मिले सुख के सूत्र, स्वाधीनता आत्माधीनता ही परम सुख।
पवित्रता समता व शांति ही सुख, 'कनकनन्दी' का शुद्ध स्वभाव ही सुख॥ (9)

नन्दौड़, दिनांक 08.12.2015, रात्रि 7.35

(मेरी आध्यात्मिक अनुभव संबंधी कविता)

मैं आध्यात्मिक दृष्टि से क्या देखता हूँ?!

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : आत्मशक्ति....., क्या मिलिये ऐसे लोगों से.....)

आध्यात्मिक दृष्टि से जब मैं देखता हूँ संसार को।

सिद्ध स्वरूप/(चिन्मय रूप) देखता हूँ संसार के हर जीव को॥ (धृ.)

इसी दृष्टि से कोई न छोटा-कोई न बड़ा होता है।

कोई न उच्च कोई न नीच, भेद-भाव कुछ न होता है॥

कोई न पशु-कोई न नारकी, कोई न देव होता है।

कोई न मनुष्य कोई न स्त्री, कोई न नपुंसक होता है॥ (1)

कोई न धनी कोई न निर्धनी, कोई न भिखारी होता है।

कोई न शत्रु कोई न मित्र, अपना-पराया न कोई होता है॥

जो कोई शरीर-इन्द्रिय-मन को, अपना/(मैं) स्वरूप मानता है।

उसकी प्रज्ञा-श्रद्धा को मैं, अंध श्रद्धादि रूप/(अहंकार रूप) मानता हूँ॥ (2)

सत्ता-संपत्ति प्रसिद्धि डिग्री को, मेरी है ऐसा जो मानता है।

उसकी ऐसी परिणति को मैं, ममकार रूप/(मोह रागरूप) मानता हूँ॥

धर्म जाति राष्ट्र भाषादि के कारण, अन्य से जो वैरत्व करते।

ऐसे भाव-व्यवहार को मैं, राग-द्वेष-मोह रूप मानता हूँ। (3)

समता शांति आत्मविशुद्धि बिना, जो स्वयं को धार्मिक मानता है।

उसके ऐसे भाव को मैं अज्ञान, मोहाच्छन्न रूप से मानता हूँ।

जन्म-मरण सांसारिक सुख-दुःखादि को मैं विभावमय देखता हूँ।

यथा आकाश के बादल-रंगादि को मैं, भौतिकमय जानता हूँ। (4)

सच्चिदानंद-सत्य-शिव-सुंदरमय, हर जीव को मैं मानता हूँ।

ऐसा स्वरूप हर जीव प्राप्त करे, ऐसी भावना मैं ('कनक') भाता हूँ। (5)

नन्दौड़, दिनांक 20.11.2015, प्रातः 7.00

दीपोत्सव के अवसर पर मेरा आत्म विश्लेषण व मूल्यांकन (शारीरिक रोगों के कारण मैं बाह्य तप-त्याग को कम करते हुए अंतरंग तप-त्याग को बढ़ा रहा हूँ)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : तुम दिल की धड़कन....., छोटी-छोटी गैया.....)

आगम अनुभव आयुर्वेद व, मनोविज्ञान शरीर विज्ञान से।

शिक्षा लेकर तप-त्याग में न्यूनाधिक कर रहा हूँ गुरुजनों से/(वैद्यजनों से)।। (1)

क्षुल्लक (1978) से लेकर साधु उपाध्याय, एलाचार्य व आचार्य (1996) तक।

रहा हूँ अस्वस्थ निम्नोक्त कारणों से, जिससे परिवर्तन किया अभी तक।। (2)

अधिक जागना (18 घंटे अध्ययन) व कम सोना, अंतराय भी आये अधिकतर

(20-22 वर्ष)।

अध्ययन-अध्यापन व लेखन-प्रशिक्षण, कर रहा हूँ मैं अधिकतर।। (3)

योग्य आहार-विहार-निहार, निवास न मिले अधिकतर।

प्रदूषण गंदगी व गर्मी-सर्दी का, प्रकोप भी रहा है अधिकतर।। (4)

मक्खी मच्छर व खटमल कीटों के, प्रकोप सहा हूँ अनेक बार।

पूर्व उपार्जित असाता उदय से, अनेक रोग हुए है अनेक बार।। (5)

देह में गर्मी (भी) बढ़ी पित्त भी बढ़ा, शारीरिक शक्ति भी हुई क्षीण।

रोग प्रतिरोधक क्षमता क्षीण हुई, जिससे भी हुए रोग अनेक।। (6)

अनेक (प्रायः 25) वर्षों तक पाटा न लिया, तेल मालिश वैयावृत्ति न कराया।
रसत्याग व अल्पाहार भी किया, कमण्डल उपकरणसह विहार (प्रायः 20 वर्ष)
किया॥ (7)

योग्य औषधि पथ्य न (सदा) मिले, सभी में सदा मैं निस्पृह रहा।
अपरिग्रह अनाग्रह अयाचक से, मौन व समता में लीन रहा॥ (8)

एसिडिटी बढ़ा देह ताप भी बढ़ा, वमन व चक्कर पसीना बढ़ा।
हैजा पीलिया मलेरिया हुआ, देह में जलन व थूक बढ़ा॥ (9)

पेट आँखों व दाँतों में भी दर्द, भोजन की मात्रा भी हुई कम।
अध्ययन-अध्यापन लेखन प्रशिक्षण, प्रवचन आदि में व्यवधान हुआ॥ (10)

जिससे मेरे गुरु कुंथुसागर आचार्य, सूरि विमलसागर-भरतसागर।
आचार्य विद्यानंद गुरुवर सहित, आर्यिका ज्ञानमती व (मेरे) शिष्य प्रचुर॥ (11)

वैद्य सुशील व प्रह्लाद वैद्य, श्यामसुन्दर व शोभालाल वैद्य।
और भी अनेक डॉक्टर वैद्यों के, सुझाव से कर रहा हूँ स्वास्थ्य सुधार॥ (12)

पाटा (भी) लेता हूँ तेल भी लगाता हूँ, करता हूँ सदा शीतल उपचार।
शीतल स्वच्छ स्थान में रहता हूँ, सेवन करता हूँ पथ्य आहार॥ (13)

भ्रमण प्राणायाम योगासन करता हूँ, मध्याह्न में विश्राम रात्रि शयन।
नेतिक्रिया व स्पञ्ज (ठंडा सेक) भी करता हूँ, नहीं करता हूँ उपवास अल्पाहार॥ (14)

दूध घी व फल सब्जी भी लेता, बादाम अखरोट व मनुक्का।
केला नारियल व आम अँगूर, करता हूँ भी औषधिय उपचार॥ (15)

इसी से स्वास्थ्य में सुधार हो रहा, अंतरंग तप-त्याग भी बढ़ा।
ध्यान-अध्ययन व शोध-बोध-लेखन, शिविर-संगोष्ठी व चर्चा-प्रशिक्षण॥ (16)

समता-शांति व प्रभावना भी बढ़ी, देश-विदेशों में प्रभावना चली।
आत्मविशुद्धि एकाग्रता भी बढ़ी, 'कनक' की अंतरंग साधना बढ़ी॥ (17)

नन्दौड़, दिनांक 10.11.2015, मध्याह्न 1.40 (स्वरूप चौदस)

संदर्भ-

करोतु न चिरं घोरं तपः क्लेशासहो भवान्।

चित्त साध्यान् कषायारीन् न जयेद्यत्तदज्ञता।। (212) आ.शा.

यदि तू कष्ट को न सहने के कारण घोर तप का आचरण नहीं कर सकता है तो न कर। परन्तु जो कषयादिक मन से सिद्ध करने योग्य है उन्हें भी यदि नहीं जीतता है तो वह तेरी अज्ञानता है। तपश्चरण में भूख आदि के दुःख को सहना पड़ता है, इसलिये यदि अनशन आदि तपों को नहीं किया जा सकता है तो न भी किया जाय। परन्तु जो राग, द्वेष एवं क्रोधादि आत्मा का अहित करने वाले हैं उनको तो भले प्रकार से जीता जा सकता है। कारण कि उनके जीतने में न तो तप के समान कुछ कष्ट सहना पड़ता है और न मन के अतिरिक्त किसी अन्य सामग्री की अपेक्षा भी करनी पड़ती है। इसीलिये उक्त राग-द्वेषादि को तो जीतना ही चाहिए। फिर यदि उनको भी प्राणी नहीं जीतना चाहता है तो यह उसकी अज्ञानता ही कही जायेगी।

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं।

जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवि सो।। (231) प्र.सार

यदि साधु आहार या विहार में देश को, काल को, मार्ग की थकान को, उपवास की क्षमता या सहनशीलता को तथा शरीर रूपी परिग्रह की दशा को इन पाँचों को जानकर वर्तन करता है वह बहुत कम कर्मबंध से लिप्त होता है।

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्कइ तं च सधहणं।

केवल्लिजिणेहिं भणियं सधहमाणस्य सम्मत्तं।। (22) अ.पा.

जो कार्य किया जा सकता है वह किया जाता है और जिसका किया जाना शक्य नहीं है उसका श्रद्धान करना चाहिए। केवलज्ञानी जिनेन्द्र भगवान् ने श्रद्धान करने वाले पुरुषों को सम्यग्दर्शन कहा है।

बारसविधमिहिवि तवे सभंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।

णवि अत्थि णवि य होही सज्जायसमं तवोकम्मं।। (409)

कुशल महापुरुष के द्वारा देखे गये अभ्यंतर और बाह्य ऐसे बारह प्रकार के भी तप में स्वाध्याय के समान अन्य कोई तप न है और न ही होगा।

सज्जायं कुव्वंतो पंचेदियसुवुडो तिगुत्तो य।

हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू।। (410)

विनय से सहित हुआ मुनि स्वाध्याय को करते हुए पंचेन्द्रिय से संवृत और तीन गुप्ति से गुप्त होकर एकाग्र मन वाला हो जाता है।

मेरे आध्यात्मिक अनुभव संबंधी आध्यात्मिक वीर रसयुक्त शोधपूर्ण कविता

मेरे आध्यात्मिक अनुभव में दृढ़ता बढ़ने के कारण व परिणाम

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : अपनी आजादी को हम हरगिज मिटा सकते नहीं.....)

आत्म अनुभव को मेरे...कदापि (मैं) त्याग सकता नहीं...

कोई माने या न माने...उसकी मुझे चिन्ता नहीं...2...(ध्रुव...)

मैं हूँ चैतन्य आत्मा...तन व मन से भी परे...2

राग-द्वेष-काम-क्रोध...मोह-मद से भी परे...2

ईर्ष्या तृष्णा ख्याति पूजा...द्वंद्व चिन्ता से परे...

ऊँच-नीच व भेद-भाव...संकीर्ण-संक्लेश परे...कोई माने...(1)...

सत्य-समता-सरलता...सहजता शुचिता क्षमा...2

निरालंब व निर्विकार...संतुष्टि व शांतता...2

आत्म अनुभव आत्म ध्यान...आत्म शुद्धता युत...

निर्विकल्प व निरपेक्ष...आत्म प्राप्ति ही लक्ष्य...कोई माने...(2)...

इससे अनुभव मेरा...बढ़ रहा है हर क्षण/(हरदम)...2

शोध-बोध-कल्पना भी...हर समय वर्द्धमान...2

ज्ञात-अनुमान-मिश्रित ज्ञान...हो रहा सत्य सिद्ध...

देश-विदेश के हर क्षेत्र में...हो रहा सत्य सिद्ध...कोई माने...(3)...

आत्मविश्वास मेरा...इससे हो रहा दृढ़तम...2

मम आत्मा परम सत्य...मुझमें बोध अनंत...2

सत्य-समता आदि से ही...बढ़ता है शोध-बोध...

आत्म शुद्धता से ही...बढ़ता है ज्ञानानंद...कोई माने...(4)...

इन सभी अनुभवों को मैं...प्रायोगिक सही पाता हूँ...2

मुझ से लेकर पृथ्वी भर में...गुण व दोष में पाता हूँ...2

अन्य जन अनुभव को मेरे...गलत माने पूर्व में...

सत्य सिद्ध होने पर वे...सत्य मान रहे अभी...कोई माने...(5)...

इससे मेरी दृढ़ता भी...दिनोंदिन है बढ़ रही...2

सहयोगी हो रहे हर दिन...विदेशों के शोध-बोध भी...2

आत्म सिद्धांतों में मेरा...श्रद्धान हो रहा दृढ़तम...

आध्यात्मिक (महा) पुरुषों को 'कनक'...माने परम महान्...कोई माने...(6)...

ढोंग या पाखण्डों से...ख्याति पूजा या लाभ से...2

संकल्प-विकल्प से...संकलेश/(द्वंद्व) से अनुभव घटे...2

अंधश्रद्धा-संकीर्णता...चिन्ता से अनुभव घटे...

अपमान-परपीड़ा-निन्दा...द्वेष से अनुभव घटे...कोई माने...(7)...

वन्दे आत्मन्...वन्दे स्वात्मन्...वन्दे परमात्मन्...

नन्दौड़, दिनांक 10.12.2015, रात्रि 8.15

(यह कविता "साइको साइबरनेटिक्स" (मन की शक्ति) से भी प्रेरित है।)

बहुत ज्यादा सावधान न बने

(इस पुस्तक में मैंने पहले एक उदाहरण दिया था। इसमें डॉ. वायनर ने हमारे सामने प्रदर्शित किया था कि इंसान चेतन विचार या इच्छाशक्ति के जरिए टेबल से पेंसिल उठाने जितना सरल कार्य भी नहीं कर सकता।)

जब कोई व्यक्ति लगभग पूरी तरह चेतन विचार और इच्छाशक्ति पर निर्भर होता है, तो वह अति सावधान हो जाता है, अति चिन्तातुर हो जाता है और परिणामों को लेकर अति भयभीत हो जाता है। ऐसे में वह ईसा मसीह की सलाह को भूल जाता है, "कल के बारे में जरा भी मत सोचो।" या सेंट पॉल की सलाह "किसी चीज की परवाह नहीं" को अव्यावहारिक बकवास मान लेता है।

लेकिन दरअसल यही सलाह अमेरिकी मनोवैज्ञानिक के डीन विलियम जैम्स ने बरसों पहले दी थी। अफसोस, हमने उनकी बात सुनी ही नहीं! अपने निबंध "द गॉस्पेल ऑफ रिलैक्सेशन" में उन्होंने कहा था कि आधुनिक इंसान बहुत ज्यादा तनावपूर्ण है, परिणामों को लेकर जरूरत से ज्यादा चिंतित है, बहुत ज्यादा चिन्तातुर है (यह 1899 की बात थी) और इससे बेहतर तथा ज्यादा आजाद तरीका मौजूद है। "जब एक बार कोई निर्णय ले लिया जाए और अमल करने की बारी आए, तो परिणाम के बारे में सारी जिम्मेदारी और परवाह को छोड़ दें। अपनी बौद्धिक तथा

व्यावहारिक मशीनरी को ढीला कर दे और इसे मुक्त बहने दें; फिर यह आपकी जो सेवा करेगी वह दोगुनी बेहतर होगी।’

सृजनात्मक सोच और सृजनात्मक कर्म का रहस्य

हम जो कह रहे हैं, वह सच है, इसका सबूत लेखकों, आविष्कारकों और अन्य सृजनात्मक लोगों के अनुभव में देखा जा सकता है। हमेशा वे हमें बताते हैं कि सृजनात्मक विचार चेतन सोच द्वारा चेतन अवस्था में नहीं सोचे जाते हैं, बल्कि अपने आप, सहज बोध से आते हैं। एक तरह से वे आसमान की बिजली की तरह अचानक आते हैं, जब चेतन मन ने समस्या को छोड़ दिया था और किसी दूसरी चीज के बारे में सोचने में मशगूल था। ये रचनात्मक विचार उस समस्या के बारे में शुरूआती चेतन विचार के बिना अनायास ही नहीं आते हैं। सारे प्रमाण संकेत करते हैं कि “प्रेरणा” या “आभास” पाने के लिए इंसान को सबसे पहले तो किसी खास समस्या को सुलझाने या जवाब खोजने में गहरी रुचि लेनी होगी। उसे इसके बारे में चेतन रूप से सोचना होगा, उस विषय पर उपलब्ध सारी जानकारी एकत्रित करनी होगी, कर्म की सभी संभावित दिशाओं पर विचार करना होगा और सबसे बढ़कर, समस्या को सुलझाने की ज्वलंत इच्छा रखनी होगी। लेकिन समस्या को परिभाषित करने के बाद, मनचाहे अंतिम परिणाम को कल्पना में देखने के बाद, सारी जानकारी और तथ्य एकत्रित करने के बाद अतिरिक्त संघर्ष, चिंता और तनाव से कोई मदद नहीं मिलती है, उल्टे समाधान में बाधा पेश आती है।

अपनी कालजयी, बेस्टसेलिंग पुस्तक थिंक एंड ग्रो रिच में नेपोलियन हिल बताते हैं कि उनके प्रकाशक ने उन पर दबाव डाला था। उन्होंने कहा था कि हिल सिर्फ 24 घंटों में अपनी पुस्तक के लिए कोई उचित शीर्षक खोजें। हिल महीनों से शीर्षक के बारे में ही सोच रहे थे, लेकिन जब उन्होंने अपनी पांडुलिपि पूरी करके प्रकाशक को दी, तब तक कोई अच्छा शीर्षक उनके दिमाग में नहीं आया। “प्रकाशन के एक दिन पहले” उनके संपादक ने उनसे कहा कि उनके पास अच्छा विचार सोचने के लिए सिर्फ 24 घंटे का समय था, वरना पुस्तक का शीर्षक वही होगा, जो संपादक का सर्वश्रेष्ठ विचार था, यूज योर नूडल टु गेट द बूडल। हिल ने इस शीर्षक के भड़कीले और सनसनीखेज होने का विरोध किया तथा कहा कि इससे वे बर्बाद हो जायेंगे और उनकी बात को गंभीरता से कभी नहीं लिया

जाएगा। उनके प्रकाशक ने कहा, “24 घंटे!”

यही दबाव है! संक्षेप में हिल ने चेतन रूप से शीर्षक सोचने की कोशिश की, लेकिन जल्द ही यह कोशिश छोड़ दी। आखिर, वे महीनों से इसकी असफल कोशिश कर रहे थे। इसके बजाय उन्होंने निर्णय लिया कि वे इस पूरे मसले को अपने अवचेतन मन के हवाले कर देंगे और फिर देखेंगे कि क्या होता है। फिर जब वे एक झपकी से जागे, तो शीर्षक उनके दिमाग में था। करीबी जाँच करने पर हम आसानी से देख सकते हैं कि उनके स्वचलित सफलता मेकेनिज्म ने तो “बुरे” शीर्षक को दोबारा लिखा भर था। “नूडल” बदलकर “थिंक” हो गया और “बूडल” बदलकर “रिच” हो गया।

मैं मानता हूँ कि हर लेखक को इसी तरह का अनुभव होता है। हममें से कुछ इसे जानते-बूझते हुए और बार-बार अपने लिए कराते हैं। हम अक्सर अपने सर्वो-मेकेनिज्म से अपने लिए पूरे अध्याय या भाषण लिखवाते हैं, जबकि हम झपकी लेते हैं या अपने नाती-पोतों के साथ खेलते हैं या मछली पकड़ने का डंडा हाथ में लेकर नाव में बैठते हैं। इस पुस्तक के संपादक और द साइको साइबरनेटिक्स फाउंडेशन के प्रेसिडेंट डैन कैनेडी ने नौ पुस्तकें और असंख्य लेख लिखे हैं। वे एक मासिक न्यूजलेटर लिखते हैं, दर्जनों ऑडियो कैसेट प्रोग्राम तैयार करते हैं और व्यस्त विज्ञापन कॉपीराइटर भी हैं। इस उद्देश्य के लिए उन्होंने साइको साइबरनेटिक्स के अमल में माहिर बनने का लक्ष्य बनाया था; ताकि वे रात को सोने जाये और फिर जागते ही अपने कंप्यूटर पर बैठकर उस सारे लेखन कार्य को “टाईप कर सकें,” जो उनके सोते समय “उनकी खातिर” किया गया था। दूसरे लोग कहते हैं कि लिखना बहुत ज्यादा तनावपूर्ण और मुश्किल होता है, लेकिन उनके लिए यह बिलकुल तनाव रहित होता है।

डैन कैनेडी कहते हैं कि इस प्रयोग की प्रेरणा उन्हें इस पुस्तक के मूल संस्करण से मिली थी, जिसमें मैंने बरट्रेंड रसल का अनुभव बताया था। बरट्रेंड रसल ने कहा था-

“मिसाल के तौर पर, मैंने पाया है कि अगर मुझे किसी मुश्किल विषय पर लिखना होता है, तो सबसे अच्छी योजना यह है कि मैं कुछ घंटों या दिनों तक उसके बारे में बहुत गहराई से सोचता हूँ-सबसे अधिक गहराई तक

जिसमें मैं सक्षम हूँ। इसके बाद मैं आदेश देता हूँ कि इसके बाद का कार्य भूमिगत रूप से आगे बढ़े। कुछ महीनों बाद मैं चेतन रूप से विषय पर लौटता हूँ और पाता हूँ कि कार्य पूरा हो गया है। इस तकनीक को खोजने से पहले मैं बीच के महीने चिंता में बिताया करता था, क्योंकि कोई प्रगति ही नहीं हो रही थी। बहरहाल, चिंता की वजह से मैं समाधान तक जल्दी नहीं पहुँच पाता था और बीच के महीने भी बर्बाद हो जाते थे, जबकि अब मैं उनमें दूसरे कार्य कर सकता हूँ।” (बरट्रेड रसल, द कॉन्क्रेस्ट ऑफ हैप्पीनेस)

जो चीज लेखकों के लिए कार्य करती है, वह आपके लिए भी कार्य कर सकती है। सृजन यानी समस्या सुलझाने का कार्य (वे दोनों एक ही हैं) सर्वो-मेकेनिज्म को सौंपना एक ऐसी प्रक्रिया है, जिस पर कोई भी अमल कर सकता है।

लेनॉक्स राइली लॉर नेशनल ब्रॉडकास्टिंग कंपनी के प्रेसिडेंट थे। एक बार उन्होंने एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने बताया था कि कारोबार में सहायक विचार उनके मन में कैसे आए। “मैंने पाया है कि विचार सबसे जल्दी तब आते हैं, जब आप कोई ऐसी चीज कर रहे हों, जो दिमाग को तो चौकस रखे, लेकिन उस पर बहुत ज्यादा दबाव न डाले।” मिसाल के तौर पर, दाढ़ी बनाना, कार चलाना, लड्डे को आरी से काटना, मछली पकड़ना या शिकार करना। या किसी मित्र के साथ प्रेरक बातचीत करना। मेरे दिमाग में कुछ सबसे अच्छे विचार तब आए थे, जब मैं कोई दूसरी चीज कर रहा था, जिसका मेरे कार्य से कोई संबंध नहीं था।

(“एनीवन कैन बी एन आइडिया मैन,” अमेरिकन मैग्जीन, मार्च-1940)

जनरल इलेक्ट्रिक के शोध प्रमुख सी.जी. स्यूटस ने कहा था कि शोध प्रयोगशालाओं में हुई लगभग सारी खोजें आराम करने की अवधि में आभासों के रूप में आई थीं, जबकि गहन सोच और तथ्य एकत्रित करने की प्रक्रिया पूरी हो चुकी थी।

दूसरे शब्दों में, जब चेतन विचार द्वारा जवाब खोजने की कोशिश का दबाव हट जाता है, तो सर्वो-मेकेनिज्म स्वचलित सफलता मेकेनिज्म के रूप में कार्य करने के लिए स्वतंत्र हो जाता है और अक्सर यह ऐसा कर भी देता है।

आप एक “सृजनकर्मी” हैं

हम यह मानने की गलती कर बैठते हैं कि यह “अचेतन मस्तिष्क प्रक्रिया” सिर्फ लेखकों, चित्रकारों, आविष्कारकों और अन्य तथाकथित “सृजनकर्मियों” के लिए सुरक्षित है। देखिए, हम सभी सृजनकर्मी हैं, चाहे हम किचन में कार्य करने वाले कुक हो, स्कूल टीचर हो, विद्यार्थी हो, सेल्स प्रोफेशनल हो या उद्यमी हो। हम सबके भीतर वही सफलता मेकेनिज्म है और यह जिस तरह कहानी लिखने या किसी प्रॉडक्ट के आविष्कार के लिए कार्य करता है, उसी तरह व्यक्तिगत समस्याओं को सुलझाने, कारोबार चलाने या सामान बेचने के लिए भी कार्य करेगा। बरट्रेंड रसल ने अनुशंसा की थी कि अपने लेखन में उन्होंने जिस उपाय का इस्तेमाल किया था, उसका इस्तेमाल उनके पाठक अपनी रोजमर्रा की व्यक्तिगत समस्याओं को सुलझाने में करें। ड्यूक यूनिवर्सिटी के डॉ. जे.बी. राइन ने कहा था कि हम जिसे “जीनियस” कहते हैं, वह एक प्रक्रिया है—एक नैसर्गिक तरीका, जिससे इंसान का मन किसी समस्या को सुलझाने के लिए कार्य करता है—लेकिन हम गलती से “जीनियस” शब्दावली का इस्तेमाल तभी करते हैं, जब इस प्रक्रिया का इस्तेमाल पुस्तक लिखने या चित्र बनाने के लिए किया जाता है।

माइकल जे. गेल्ब की मनोहारी पुस्तक हाउ टु थिंक लाइक लियोनार्डो द विंची इस आधार वाक्य पर आधारित है कि जीनियस पैदाइशी प्रतिभा कम, प्रक्रिया ज्यादा है।

वास्तव में जीनियस हममें से प्रत्येक के भीतर होता है, जो अधिकतर मामलों में जाग्रत किए जाने, मुक्त किए जाने, ऊर्जावान बनाए जाने और इस्तेमाल किए जाने का इंतजार कर रहा है। हो सकता है कि आज जीनियस होना आपकी आत्म-छवि का हिस्सा न हो, लेकिन मुझे उम्मीद है कि जल्द ही यह होगा, क्योंकि यह इस विस्तृत विचार पर आधारित होगा कि जीनियस दरअसल क्या है और यह कैसे कार्य करता है।

“नैसर्गिक” व्यवहार और योग्यता का रहस्य

आपके भीतर का सफलता मेकेनिज्म सृजनात्मक कर्म उत्पन्न करने के लिए भी इसी तरह कार्य कर सकता है, जिस तरह कि यह सृजनात्मक विचार उत्पन्न करने के लिए करता है।

चाहे यह खेल में हो, पियानो बजाने में हो, बातचीत में हो या सामान बेचने में हो, किसी भी क्षेत्र में योग्यता का संबंध चेतन रूप से यह सोचने में नहीं है कि हर गतिविधि को कैसे करना है। योग्यता तो तनाव रहित होकर अपने माध्यम से उस कार्य को होने देने में है। सृजनात्मक प्रदर्शन बिना पूर्व तैयारी के और स्वाभाविक होता है, जबकि इसका विपरीत प्रदर्शन संकोची और अध्ययन-आधारित होता है। संसार की सबसे योग्य पियानोवादक भी सबसे सरल संगीत रचना तक नहीं बजा सकती, अगर वह चेतन रूप से यह सोचने की कोशिश करे कि पियानो बजाते समय कौनसी अँगुली किस कुंजी पर पड़नी चाहिए। उसने इस मसले पर पहले चेतन ध्यान दिया है (सीखते समय) और अभ्यास किया है, जब तक कि उसकी गतिविधियाँ स्वचलित और आदतन नहीं हो गईं। वह केवल तभी शानदार संगीतकार बन पाई, जब वह उस बिंदु पर पहुँच गई, जहाँ वह चेतन प्रयास छोड़ सके और संगीत बजाने का कार्य अचेतन आदत मेकेनिज्म को सौंप सके, जो सफलता मेकेनिज्म का हिस्सा है।

हो सकता है आपने सीखने के चार कदमों या स्तरों की पृष्ठभूमि में इसके बारे में कहीं और पढ़ा हो- **1. अचेतन अक्षमता, 2. चेतन अक्षमता, 3. चेतन सक्षमता, 4. अचेतन सक्षमता।**

पहले स्तर पर आप यह भी नहीं जानते कि आप नहीं जानते। जब आप दूसरे स्तर पर पहुँचते हैं, तो आपको दुःखद जानकारी मिलती है कि आपके लिए क्या मुश्किल है। तीसरे स्तर पर, आप उस चीज को करने में समर्थ बन जाते हैं, लेकिन आप अब भी इसे मुश्किल तरीके से कर रहे हैं, चेतन विचार पर निर्भर कर रहे हैं, शायद इच्छाशक्ति पर भी। चौथे स्तर पर आने के बाद जो मुश्किल था, वह स्वचलित बन जाता है। यह सीखने के हर अनुभव का तार्किक रूप से सटीक वर्णन है, चाहे यह किसी बच्चे के जूते के फीते बाँधना हो या वयस्क के रूप में कंप्यूटर चलाना हो।

बहुत महत्वपूर्ण और रोमांचक यह है कि साइको साइबरनेटिक्स के जरिये आप इस चार पायदानों वाली सीढ़ी पर अपनी गति कितनी बढ़ा सकते हैं और इससे कितना ज्यादा तनाव कम कर सकते हैं। बस इसके लिए आपको वास्तविक, शारीरिक प्रयास के बजाय उसके साथ मानसिक थिएटर की तकनीकों का इस्तेमाल करना होगा।

अपनी सृजनात्मक मशीन को कुंद न करें

चेतन प्रयास स्वचलित सृजनात्मक मेकेनिज्म को अटका देता है और कुंद कर देता है। कुछ लोग सामाजिक स्थितियों में इतने संकोची और फूहड़ इसलिए होते हैं, क्योंकि वे चेतन रूप से जरूरत से ज्यादा चिंतित होते हैं, सही चीज करने के लिए जरूरत से ज्यादा व्यग्र रहते हैं और गलत चीज कहने या करने से बहुत ज्यादा डरते हैं। वे जो भी गतिविधि करते हैं, उसके बारे में बहुत संकोची होते हैं। हर कार्य बहुत सोच-समझकर करते हैं। हर शब्द के प्रभाव को अच्छी तरह नाप-तौलकर बोलते हैं। हम ऐसे इंसानों को संकोची कहते हैं और यह सही भी है। लेकिन यह कहना ज्यादा सच होगा कि वह “इंसान” संकोची नहीं है, बल्कि उस इंसान ने सृजनात्मक मेकेनिज्म को “अटका” दिया है। अगर ये लोग ढीला छोड़ सके, कोशिश करना छोड़ सके, परवाह करना छोड़ सके और अपने व्यवहार के मसले पर कोई ध्यान न दे, तो वे सृजनात्मक, स्वतः स्फूर्त तरीके से कार्य कर सकते हैं और “अपने असल स्वभाव” में रह सकते हैं।

खेल जगत् में कहा जाता है, “आप न हारने के लिए खेलकर जीत नहीं सकते।” जीवन में, यहाँ तक कि रोजमर्रा की स्थितियों में भी, हम यही कह सकते हैं। दरअसल, न हारने के लिए खेलने से तनाव उत्पन्न होता और बढ़ता है, इसलिए गलतियाँ करने की आशंका भी बढ़ जाती है।

अपनी सृजनात्मक मशीन को स्वतंत्र करने के पाँच नुस्खे

1. एक बार जब निर्णय ले लिया जाये, तो शंका करने के बजाय इसका समर्थन करने पर ध्यान केंद्रित करें।

मूल पुस्तक में मैंने एक बिजनेस एक्जीक्यूटिव के बारे में बताया था, जिसे रूलेट पर जुआ खेलने का शौक था। उसी ने मुझे यह विचार दिया था—“अपनी सारी चिंता चक्र घूमने के बाद नहीं, दाँव लगाने से पहले कर लें।”

मैंने उसे विलियम जेम्स की सलाह बताई थी, जो मैं आपको पहले ही बता चुका हूँ। उसका सार यह था कि योजना बनाने और कर्म की दिशा तय करने में चिंता की जगह होती है, लेकिन “जब एक बार कोई निर्णय ले लिया जाता है और अमल करने की बारी आती है, तो परिणाम के बारे में सारी जिम्मेदारी और परवाह को छोड़ दें। अपनी बौद्धिक तथा व्यावहारिक मशीनरी को ढीला कर दे और इसे मुक्त बहने दें।”

आत्म-संबोधन

पर सुधार के पूर्व मैं स्व-सुधार करूँ!

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : मन रे! तू काहे न धीर धरेऽऽऽ.....)

जिया रे!ऽऽऽ तू स्वयं प्रकाशी बनऽऽऽ

पर के दीप..जलाने से पूर्व...स्व-दीप जला रेऽऽऽ जिया रे!ऽऽऽ (ध्रुव)...

जो दीपक..स्वयं न जला होऽऽऽ अन्य को क्या जलाएगा?ऽऽऽ

तथाहि तू यदि स्वयं न योग्यऽऽऽ अन्य को क्या योग्य बनाएगाऽऽऽ

स्वयं योग्य बन रेऽऽऽ जिया रे...(1)...

चुंबक से बने लोहा भी चुंबकऽऽऽ आग से आग लगेऽऽऽ

धनी ही धन देने में समर्थऽऽऽ ज्ञानी से ज्ञान मिलेऽऽऽ

स्वयं ज्ञानी बन रेऽऽऽ जिया रे...(2)...

आत्महित तू पहले करोऽऽऽ पहले आदर्श तू बनोऽऽऽ

संभव हो परहित भी करोऽऽऽ स्व-पर उपकारी बनोऽऽऽ

मध्य दीपक बन रेऽऽऽ जिया रे...(3)...

सर्वज्ञ से तुम शिक्षा लेकरऽऽऽ यथायोग्य बनो निर्दोषीऽऽऽ

जिससे अन्य भी स्व-दोष देखेऽऽऽ दर्पण सम प्रतिबिंबभासीऽऽऽ

निर्मल आदर्श बन रेऽऽऽ जिया रे...(4)...

न बनो परोपदेशी पाण्डित्यऽऽऽ न बनो है रायचन्दऽऽऽ

धोबी या गधा सम काम न करोऽऽऽ मंथरा-शकुनी न बनोऽऽऽ

स्व-पर हितैषी बन रेऽऽऽ जिया रे...(5)...

ज्ञानी-ध्यानी व उदार बनोऽऽऽ समताधारी व पावनऽऽऽ

निस्पृह निराडम्बर अनिंदक बनोऽऽऽ बनो हे! सच्चिदानंदऽऽऽ

'कनक' शुद्धात्म बन रेऽऽऽ जिया रे...(6)...

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 23.12.2015, मध्याह्न 2.52

मेरा शुद्ध स्वरूप ही मेरा सद्धर्म-स्वधर्म

-आ. कनकनन्दी

(चाल : छोटी-छोटी गैया....., सायोनारा....., भातुकली.....)

मेरा स्वधर्म तो मुझ में ही स्थित, अन्य में नहीं है अवस्थित।

अतः स्वधर्म (ही) मुझ में ही, स्वयं को पाना है यह सत्य॥ (1)

‘सद् द्रव्यलक्षणम्’ से सिद्ध होता है, मेरा स्वरूप है सत स्वरूप।

‘गुणपर्ययवत् द्रव्यम्’ से सिद्ध है, मुझ में ही अरिहंत व सिद्ध॥ (2)

‘उत्पाद व्यय ध्रौव्य’ स्वरूप द्रव्य है, अतः धर्म मुझ में भी तीनों रूप।

मुझमें ही मेरा धर्म उत्पन्न होता, मुझमें ही विलय व ध्रौव्य/(स्थित) होता॥ (3)

मेरा रत्नत्रय मुझमें ही स्थित, अतएव मैं ही हूँ मोक्षमार्ग।

मुझमें ही रत्नत्रय पूर्ण होता, अतएव मैं ही हूँ मोक्षमय॥ (4)

सत्य स्वरूप हूँ अतः (हूँ) सनातन, अनादि अनिधन स्वयंभू पूर्ण।

अस्तित्व वस्तुत्व प्रमेयत्व आदि, अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्य॥ (5)

यही मेरा रूप यही मेरा सर्वस्व, यही मेरा सद्धर्म व स्वधर्म।

इसी से भिन्न सभी राग द्वेष मोहादि, मुझसे परे सभी कर्मज भाव॥ (6)

पर विभावों को त्यागकर मुझे ही, स्वभाव को पाना है मेरा स्वधर्म।

इसी हेतु ही व्यवहार धर्म विधेय, ‘कनकनन्दी’ हेतु स्वधर्म ही ध्येय॥ (7)

ग.पु.काँ., सागवाड़ा, दिनांक 24.12.2015, रात्रि 2.17 से 2.53

अनुक्रमणिका

अ.क्र	विषय	पृ.सं.
1.	मेरी भावना व विपरीत जीव प्रति मंगल कामना	2
2.	मैं (स्वयं) के द्वारा मैं (स्वयं) को समझूँ किन्तु अन्य प्रति संक्लेश न करूँ!	3
3.	मेरी समता से यदि कोई स्वयं दुःखी पापी हो तो मैं दोषी नहीं	4
4.	चिदानन्द रूप सिद्धोऽहं-शुद्धोऽहं-बुद्धोऽहं	5
5.	स्व-पात्रता से मिलती उपलब्धियाँ	10
6.	मेरे महान् उपकारी/मेरी महान् उपलब्धि	11
7.	मेरी भावना व साधना	12
8.	स्वात्मा (मैं) के परिज्ञान से तत्काल व आगामी कालीन लाभ	13
9.	मेरे (आ. कनकनंदी) एकांत-मौन-समता-निस्पृहता के कारण	16
10.	मेरी कहानी जो माँ जिनवाणी से जानूँ	17
11.	मेरा लक्ष्य मुझे अवश्य प्राप्त होगा	18
12.	आध्यात्मिक एक : मुझे मिल रहे लाभ अनेक	19
13.	रत्नत्रय ही है मेरा परम वैभव	20
14.	सिद्ध भगवान् से मुझे प्राप्त परम सुख के सूत्र	21
15.	मैं आध्यात्मिक दृष्टि से क्या देखता हूँ?!	22
16.	दीपोत्सव के अवसर पर मेरा आत्म विश्लेषण व मूल्यांकन	23
17.	मेरे आध्यात्मिक अनुभव में दृढ़ता बढ़ने के कारण व परिणाम	26
18.	पर सुधार के पूर्व मैं स्व-सुधार करूँ!	34
19.	मेरा शुद्ध स्वरूप ही मेरा सद्धर्म-स्वधर्म	35

पद्य-विभाग

1.	साधुओं की सामूहिक परमात्म प्रार्थना	39
2.	आध्यात्मिक साधनारत संत ही कलिकाल के आदर्श	40
3.	श्रमण ही निश्चय से रत्नत्रय-10 धर्म-9 देवता जीवन्त धर्म	40
4.	जीव का परम विकासवास	44
5.	आध्यात्मिक में/से ही परम विकास	45

6.	स्व-अस्तित्व से सिद्ध होता है विश्व का अस्तित्व	46
7.	स्वानुभव से ही शुद्धात्मा का यथार्थ कथन संभव	48
8.	सकारात्मक वर्णन : धर्मग्रंथों में सर्वाधिक	51
9.	शुभ व शुद्ध भाव के अचिंत्य फल	52
10.	आगम ज्ञान व शुद्धात्म भावना बिना मुक्ति नहीं	53
11.	धर्म व अध्ययन में समानता व अंतर	54
12.	विश्व के सभी जीवों की अवस्थाएँ व मोक्ष अवस्था	56
13.	वैयावृत्ति से तीन काल के सभी तीर्थंकर आदि पूजित होते	57
14.	कर्ता व भोक्ता स्वयं जीव	58
15.	यथार्थ ज्ञान-अज्ञान-निवृत्ति, हित-प्राप्ति अहित परिहार	59
16.	अभव्य-पापी जीवों को आत्मज्ञान नहीं मिलता	61
17.	सभी संसारी जीव कर्माधीन व मुक्त ही स्वाधीन	62
18.	हित-मित-प्रिय बनाम हित-अमित-अप्रिय	63
19.	भाव विशुद्धि हेतु ही करणीय धर्म	64
20.	देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से स्व-शुद्धात्मा का श्रद्धान है : सम्यग्दर्शन	66
21.	स्व-शुद्धात्म श्रद्धान से होता है धर्म का शुभारंभ	68
22.	सम्यक्त्व (परम सत्य श्रद्धान) का स्वरूप	72
23.	व्यवहार व निश्चय रत्नत्रय मोक्षमार्ग	73
24.	संपूर्ण धर्म व अधर्म का स्वरूप	74
25.	शुद्ध-बुद्ध-आनंद बनना ही जीव का परम विकास	75
26.	आनंद जीव का प्रमुख गुण व उससे प्राप्त अनंत लाभ	76

गद्य-विभाग

बोध प्राभृतम्

78

मंगलाचरण

ग्यारह अधिकार के नाम

1.	आयतन	82
	सिद्धायतन	83
2.	चैत्यग्रह का स्वरूप	84

3.	जिन प्रतिमा : जंगम प्रतिमा	86
4.	दर्शनाधिकार	92
5.	जिनबिंब स्वरूप	93
6.	जिनमुद्रा	95
7.	ज्ञानाधिकार	96
8.	देव स्वरूप	98
9.	तीर्थ	100
10.	अरहंत पर्याप्त की अपेक्षा अरहंत का वर्णन	110
11.	प्रव्रज्या	117
12.	बोध प्राभृत की चूलिका	140
13.	(आत्म-चिंतन) मेरा धर्म स्वाधीन-शुद्ध-बुद्ध	141
14.	साधु-उपाध्याय-आचार्य भी आंशिक भगवन्	146
15.	आचार्यों के महान् गुणों की स्तुति	152
16.	स्वाध्याय व अध्यापन गुण युक्त उपाध्याय की स्तुति	154
17.	विभिन्न उपमा व विशेषणों से श्रमण की स्तुति	154
18.	मेरी शुद्धात्म-अनुप्रेक्षा	157
19.	ज्ञानदाता-शिक्षागुरु उपाध्याय की विशेषता व पूजनीयता	157
20.	व्यक्त या शक्ति रूप से मैं हर जीव को भगवान् मानता हूँ	164
21.	भगवान् का निश्चय स्वरूप व व्यवहार आदि रूप	165
22.	परमागम से स्व-शुद्धात्मा का वेदन=सम्यग्ज्ञान	166
23.	मैं हूँ मोक्षमार्ग एवं मोक्ष	168
24.	ज्ञानानंद-समता रस मैं पाऊँ/पान करूँ	176
25.	ध्यान-योग्य योग्यता एवं परिस्थिति	178
26.	आत्म संवित्ति का फल-विरक्ति	182

पद्य-विभाग

साधुओं की सामूहिक परमात्मा प्रार्थना

(चाल : ऐ मालिक तेरे बन्दे हम.....)

हे! परमात्मन् तेरे भक्त हम...तेरी भक्ति से बने भगवन्...

तेरा ज्ञान करे...तेरा ध्यान धरे...करे तेरा ही चिन्तन-मनन...

हे! परमात्मन्...आऽऽ आऽऽ आऽऽ...(ध्रुव)...

तव ज्ञानार्थे पढ़े आगम...तव ध्यानार्थे एकाग्र मन...

तव चिन्तन में प्रमुदित मन...तव प्राप्ति हेतु बने श्रमण...

अरिहंत-सिद्ध व आचार्य...उपाध्याय-साधु तेरे रूप...

तेरा ज्ञान करे...हे! परमात्मन्...आऽऽ आऽऽ आऽऽ...(1)...

अर्हण-सिद्ध पूर्ण परमात्म...शेष तीनों आंशिक परमात्म...

पूर्ण परमात्मा बनना चाहे हम...अतः अन्तर आत्म बने हम...

आत्म विशुद्धि समता शांति (से)...हमें बनना है परमात्म...

तेरा ज्ञान करे...तेरा ध्यान धरे...(2)...

ख्याति-पूजा-लाभ त्यागे हम...राग-द्वेष-मोह त्यागे हम...

ईर्ष्या-घृणा व तृष्णा त्यागे हम...कट्टर संकीर्णता त्यागे हम...

विकल्प-संकलेश त्यागे हम...अपेक्षा-प्रतीक्षा त्यागे हम...

तेरा ज्ञान करे...तेरा ध्यान धरे...(3)...

तव आराधना-पूजा से...तव प्राप्ति के प्रयत्न से...

अहंकार त्याग स्वानुभवी बने...अशुभ से शुभ-शुद्ध बने हम...

अन्तर आत्म से (बने) परमात्म...‘कनक’ शुद्ध रूप परमात्म...

तेरा ज्ञान करे...तेरा ध्यान धरे...(4)...

(यह कविता “ध्यान-सूत्राणि” (आचार्य माघनन्दीकृत) से भी प्रभावित)

आध्यात्मिक साधनारत संत ही कलिकाल के आदर्श

(चाल : बड़ा नटखट है रे!.....)

धन्य! धन्य! हे! आध्यात्मिक संतSSS

पञ्चम (कलि) काल में भी साधनारतSSS होSSS

ख्याति पूजा लाभ राग-द्वेष रिक्तSSS आत्म साधना में (सतत) अनुरक्तSSS

होSSS...(स्थायी)...

हुण्डा अवसर्पिणी के यह पञ्चम कालSSS तीर्थकर गणधर ऋद्धि से रहित कालSSS

उत्तम संहनन रिक्त प्रदूषित कालSSS पौष्टिक भोजन-उत्तमजन रिक्त कालSSS

धन्य! धन्य! हे!...(1)...

श्रद्धा-प्रज्ञा से हीन होते हैं जनSSS सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि चाहते जनSSS

फैशन-व्यसन-भोग-उपभोग में रतSSS दान दया सेवा में कम अनुरक्तSSS

धन्य! धन्य! हे!...(2)...

ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा-छिद्रानुवेषण रक्तSSS शील-संयम-अनुशासन में न अनुरक्तSSS

निस्पृह पवित्र भाव से न करे धर्मSSS दिखावा स्वार्थ से पाले रूढ़ि से धर्मSSS

धन्य! धन्य! हे!...(3)...

विपरीत स्थिति में भी (आप) साधनारतSSS अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा रहित चित्तSSS

समता-शांति-निस्पृह से साधनारतSSS आपका आदर्श विश्व के लिए श्रेष्ठSSS

धन्य! धन्य! हे!...(4)...

आपके एक वर्ष की साधना का फलSSS चतुर्थ काल के सहस्र वर्ष साधना समSSS

वर्तमान में आप ही जीवन्त धर्मSSS 'कनक' माने भाव से आपको आदर्शSSS

धन्य! धन्य! हे!...(5)...

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 24.12.2015, रात्रि 8.10

श्रमण ही निश्चय से रत्नत्रय-10 धर्म-9

देवता जीवन्त धर्म

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : तुम दिल की धड़कन....., सायोनारा....., छोटी-छोटी गैया.....)

रत्नत्रयधारी समता साधक मुमुक्षु, श्रमण होते हैं जीवन्त धर्म।

ख्याति पूजा लाभ संक्लेश रहित, ध्यान-अध्ययन में रत श्रमण॥

“वस्तु स्वभावमय होता है धर्म”, तथाहि “न धर्मो धार्मिकेर्विना”।

रत्नत्रय से पवित्र होते हैं श्रमण, मोक्ष न मिले श्रमण बिना॥

“साधुनां दर्शन पुण्य है”, “तीर्थभूताहि होते हैं साधवः”।

“कालेन फलन्ति तीर्थः” है किन्तु, “सद्यः फलप्रद है साधु समागमः”॥ (1)

श्रमण ही बनते हैं अरिहन्त, तथाहि अन्त में बनते हैं सिद्ध।

अतः पञ्च परमेष्ठी श्रमण ही बनते, मोक्षमार्ग व मोक्ष पर्यन्त॥

पञ्च महाव्रत पञ्च समिति त्रिगुप्ति, उत्तम क्षमादि होते हैं श्रमण धर्म।

नव देवता षट् आयतन भी होते हैं, प्रकारान्तर रूप में श्रमण॥ (2)

रत्नत्रय तो आत्मा का स्वभाव, आत्मा को छोड़ न अन्यत्र सम्भव।

रत्नत्रय ही है मोक्षमार्ग व, इसकी पूर्णता ही होता है मोक्ष॥

ये सब चैतन्यमय होने से, इनसे युक्त श्रमण निश्चय चैत्य।

चैत्य का निवास होता है श्रमण में, अतएव श्रमण ही चैत्यगृह॥ (3)

श्रमण के आधीन होते हैं कषाय, अतः श्रमण ही निश्चय आयतन।

श्रमण के आधीन मन वचन काय, अतः मुनि के देह ही आयतन॥

निश्चय से ये सब यथार्थ से होते, व्यवहार से होते चैत्य/(मूर्ति) आदि भी।

भावनापूर्वक मंत्र संस्कार से धातु, पाषाण आदि के चैत्य आदि भी॥ (4)

निश्चय-व्यवहार व नाम-स्थापना, द्रव्य-भाव रूप से सत्य जानकर।

आत्मा को परमात्मा बनाना ही होता, परम लक्ष्य अन्य सभी हैं उपकार॥

यथार्थ के बिना केवल प्रतीक से, नहीं मिलता है परम मोक्ष।

मोक्ष हेतु बाह्य-अंतरंग चाहिये, मोक्ष ही ‘कनक’ का अंतिम लक्ष्य॥ (5)

संदर्भ-

तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं।

जस्स य दंसण णाणं अस्थि धुवं चेयणाभावो॥ (17) बोध प्राभृत

उन जिनबिम्ब रूप आचार्य परमेष्ठी को प्रणाम करो, सब प्रकार की पूजा करो, उनके प्रति विनय व वात्सल्य भाव प्रगट करो जिनके कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान तथा निश्चित रूप से चेतना भाव विद्यमान है।

(विशेष परिज्ञान हेतु कविकृत 'मैं' गीताजंली, 'पूजा से मोक्ष-पुण्य तथा पाप भी' व 'बोध पाहुड़ व समयसार' 'प्रवचनसार' का अध्ययन करें।)

मणवयणकायदव्वा आसत्ता जस्स इंदिया विसया।

आयदणं जिणमग्गे णिद्धिं संजयं रूवं॥ (5) बोध प्राभृत

मन वचन काय रूप द्रव्य तथा इन्द्रियों के विषय जिससे संबंध को प्राप्त हैं अथवा जिसके आधीन हैं, ऐसे संयमी मुनि का शरीर जिनागम में आयतन कहा गया है।

मय राय दोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।

पंच महव्यधारी आयदणं महरिसी भणियं॥ (6)

मद राग द्वेष मोह क्रोध व लोभ जिसके आधीन है तथा जो पञ्च महाव्रतों को धारण करने वाले हैं, ऐसे महर्षि आयतन कहे गये हैं।

सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धं झाणस्स णाणजुत्तस्स।

सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरवसहस्स मुणितत्थं॥ (7)

विशुद्ध ध्यान से सहित एवं केवलज्ञान से युक्त जिस श्रेष्ठ मुनि के निजात्म स्वरूप सिद्ध हुआ है अथवा जिन्होंने छह द्रव्य, सात तत्त्व, नव पदार्थ अच्छी तरह जान लिए हैं, उन्हें सिद्धायतन कहा है।

बुद्धं जं वोहंतो अप्पाणं चेइयाइं अण्णं च।

पंच महव्यय सुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं॥ (8)

जो ज्ञान युक्त आत्मा को जानता हो, दूसरे भव्य जीवों को उसका बोध कराता हो, पाँच महाव्रतों से शुद्ध हो तथा स्वयं ज्ञानमय हो, ऐसे मुनि को चैत्यगृह जानो।

चेइय बंधं मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयं तस्स।

चेइहरं जिणमग्गे छक्काय हियंकरं भणियं॥ (9)

जो चैत्यगृह के प्रति दुष्ट प्रवृत्ति करता है, उसे वह बंध व उसके फलस्वरूप दुःख उत्पन्न करता है और जो चैत्यगृह के प्रति उत्तम प्रवृत्ति करता है, उसे वह मोक्ष तथा उसके फलस्वरूप सुख प्रदान करता है। जिनमार्ग में चैत्यगृह को षट्कायिक जीवों का हितकारी कहा गया है।

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं।

णिगंथ वीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा।। (10)

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के द्वारा शुद्ध निर्दोष चारित्र को धारण करने वाले तीर्थंकर की प्रतिमा स्वशासन व परशासन की अपेक्षा दो प्रकार की है, अजंगम रूप है-गति रहित है, निर्ग्रन्थ तथा वीतराग है। जिनमार्ग में ऐसी प्रतिमा मानी गई है।

जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।

सा होइ वंदणीया णिगंथा संजदा पडिमा।। (11)

जो निरतिचार चारित्र का पालन करते हैं, जिनश्रुत को जानते हैं, अपने योग्य वस्तु को देखते हैं तथा जिनका सम्यक्त्व शुद्ध है, ऐसे मुनियों का निर्ग्रन्थ शरीर जंगम प्रतिमा है। वह वंदना करने योग्य है।

जिणविम्बं गाणामयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च।

जं देइ दिक्ख सिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा।। (16)

जो ज्ञानमय हैं, संयम से शुद्ध हैं, अत्यंत वीतराग हैं तथा कर्मक्षय में कारणभूत शुद्ध दीक्षा और शिक्षा देते हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी जिनबिम्ब हैं।

ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुरः सरः।

सूरिदेव इवाराध्यः संसाराब्धितरण्डकः।। (सोमदेव सूरि)

जो ज्ञानकाण्ड व क्रियाकाण्ड में शिक्षा व दीक्षा में ऋषि, यति, मुनि व अनगार इन चार प्रकार के मुनियों के अग्रसर हैं तथा संसार रूपी समुद्र से पार करने के लिए नौका के समान हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी देव के समान आराधना करने के योग्य हैं।

तववयगुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।

अरहंतमुद्दा ऐसा दायारी दिक्खसिक्खा य।। (18) बोध प्राभूत

जो तप व्रत और गुण से शुद्ध हैं, वस्तु स्वरूप को जानते हैं तथा शुद्ध सम्यक्त्व के स्वरूप को देखते हैं, ऐसे आचार्य ही अरहन्त मुद्रा हैं-जिनबिम्ब हैं। यह अरहन्त मुद्रा दीक्षा व शिक्षा को देने वाली है।

दढसंजममुद्दाए इंदियमुद्दा कसायदढमुद्दा।

मुद्दा इह गाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया।। (19)

जो संयम की दृढ़ मुद्रा से सहित हैं, जिसमें इन्द्रियों का मुद्रण संकोच है, जिसमें कषायों का दृढ़ मुद्रण-नियंत्रण है एवं जो सम्यग्ज्ञान से सहित हैं, ऐसी मुनिमुद्रा ही जिनमुद्रा है। जिनशासन में यही जिनमुद्रा कही गई है।

जीव का परम विकासवाद

(जीव की जिनेन्द्र व शुद्ध सिद्ध बनने की यात्रा)

(चाल : छोटी-छोटी गैया....., सायोनारा....., भातुकली.....)

वृक्ष बनता है यथाहि बीज, जिनेन्द्र बनते है तथाहि जीव।

भव्य ही बनता है भगवान्, यही परम विकास का पैमाना॥ (ध्रुव)

अनादि काल से प्रत्येक जीव, निगोदिया रूप से करता निवास।

एक श्वास में लेता जन्म-मरण, अठारह-अठारह छत्तीस प्रमाण।

अनंतकाल रहते निगोदिया में, अनंत जन्म-मरण करते है वे।

छह महीने व आठ समय में, एक सौ आठ जीव त्रस में जन्मते॥ (1)

द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय, संज्ञी-असंज्ञी-पंचेन्द्रिय होते।

पशु-पक्षी-मानव-नारकी होते, देवगति में भी वे जन्म लेते।

पाँचों लब्धियों को पाकर कोई, सम्यग्दृष्टि होते दुर्लभ सो ही।

परम सत्य (व) स्वशुद्धात्मा का, करता विश्वास वह ज्ञान सहित॥ (2)

श्रद्धा-प्रज्ञा से स्वयं को मानता, मैं हूँ सच्चिदानंद स्वरूप।

अनादि अनिधन स्वयं पूर्ण हूँ, अनंत ज्ञान दर्शन सुखवीर्य हूँ।

श्रद्धा व प्रज्ञा से युक्त होकर, आत्मोपलब्धि हेतु त्यागे संसार।

राग द्वेष मोह काम त्यागकर, ध्यान अध्ययन में होता तत्पर॥ (3)

समता-शांति आत्म विशुद्धि से, आध्यात्मिक विकास करते निरंतर।

घाति नाश से बनते सर्वज्ञ, दिव्य ध्वनि से (देते) विश्व को उपदेश।

परम सत्य का वे देते उपदेश, परम आत्म विकास का संदेश।

पाप ताप संताप दूर हेतु, विश्व शांति विश्व कल्याण हेतु॥ (4)

अंत में अघाति कर्म नाशकर, बनते हैं शुद्ध-बुद्ध परमेश्वर।

जन्म-जरा-मरण रहित होकर, बनते जिनेन्द्र सिद्ध परमेश्वर।

यही जीव का परम विकासवाद, चौरासी लक्ष्य योनि परे विकास।

परम विकास से रिक्त अनंत जीव, चौरासी लक्ष्य योनि में (करते) निवास॥ (5)

उनका होता है उत्थान-पतन, चतुर्गति में होता जन्म-मरण।

मनुष्य मरकर जन्मे चारों गति में, पशु मरकर भी जन्मे चारों गति में।

छह महीने आठ समय के मध्य, एक सौ आठ (108) जीव जाते मोक्ष में।
परम विकास ही जीवों का हो लक्ष्य/(स्वभाव), 'कनकनन्दी' का भी परम लक्ष्य/
(शुद्ध स्वभाव)॥ (6)

ग.पु.कॉ., सागवाड़ा, दिनांक 28.12.2015, रात्रि 6.12
(यह कविता श्रमणी सुवत्सलमती के कारण बनी।)

(1) इसके विशेष परिज्ञान हेतु कविकृत ब्रह्माण्ड आकाश-काल-जीव अनंत (2)
तत्त्वानुचिन्तन (3) विश्व शांति आदि का अध्ययन करे।

आध्यात्मिक में/(से) ही परम विकास

-आचार्य कनकनन्दी

(राग : छोटी-छोटी गैया....)

आध्यात्मिक में/(से) ही है परम विकास, अन्य किसी से भी न होना संभव।
व्यापार-राजनीति-विज्ञान-उद्योग, लौकिक कार्यादि से न होना संभव॥ (1)

आत्मा में ही है अनंत शक्ति अतः, आध्यात्मिक से ही परम होता विकास।
अन्य व्यापारादि में नहीं अनंत शक्ति, अतः परम न होता विकास॥ (2)

दास से लेकर मालिक तक, प्रजा से लेकर चक्रवर्ती तक।

छात्र से लेकर वैज्ञानिक तक, सभी की सीमा है संसार तक॥ (3)

सांसारिक विकास तो भौतिकमय, तथाहि सीमित व नाशवान्।
सत्ता-संपत्ति व प्रसिद्धि तक, भोगोपभोग व दुःख सम्पन्न॥ (4)

संसार में सभी के विकास विषम, जिससे होता है ईर्ष्या व द्वेष।

शोषण-शोषित मालिक-मजदूर, छोटा-बड़ा व भक्ष-भक्षक॥ (5)

सांसारिक हर विकास में होता, अवश्य न्यूनता व दोष।
तन-मन-इन्द्रिय या आत्मा संबंधी होती है न्यूनता व दोष॥ (6)

जिससे होता है अवश्य दुःख, रोग चिन्ता अपमान मरण।

भोजन पानी निवास सुरक्षा, आकर्षण-विकर्षण आदि के कारण॥ (7)

आध्यात्मिक तो इसी से परे, आत्मा में ही है सब कुछ स्थित।
तन-मन-इन्द्रिय व सत्ता-संपत्ति, रहित सच्चिदानंदमय रूप॥ (8)

यह ही है परम विकास, जिसे कहते हैं परिनिर्वाण।

अनंत ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य, स्वरूप यही है परम विकास॥ (9)

इसी हेतु ही चक्रवर्ती भी, त्याग करते हैं राज वैभव।

इसी अवस्था को प्राप्त न कराते, स्वर्ग के भी इन्द्र तक॥ (10)

इस परम अवस्था हेतु अहमिन्द्र भी, रहते हैं सदा इच्छुक।

इस परम अवस्था हेतु ध्यान-अध्याय में रत 'कनक'॥ (11)

नन्दौड़, दिनांक 12.11.2015, रात्रि 10.45

(भारत आदि पृथ्वी के प्रायः आधे देशों को गुलाम बनाकर शासन करने वाले ब्रिटेन के पार्लियामेंट में भारत के प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के भाषण से प्रेरित होकर यह कविता बनी, भारत के प्रधानमंत्री के रूप में यह पहला भाषण है इसके पहले भारत के कोई प्रधानमंत्री ने वहाँ भाषण नहीं किया।)

वैश्विक अन्तर्सम्बद्ध (6 द्रव्य, 7 तत्त्व) परक शोधपूर्ण कविता

स्व-अस्तित्व से सिद्ध होता है विश्व का अस्तित्व (आत्मज्ञान हेतु चाहिए विश्व ज्ञान!)

(स्व-ज्ञान हेतु अन्य द्रव्य-तत्त्व का ज्ञान चाहिए!)

(चाल : आत्मशक्ति से ओतप्रोत....., छोटी-छोटी गैया.....)

स्व-ज्ञान हेतु (मुझे) अन्य ज्ञान चाहिए...सभी द्रव्य-तत्त्वों का ज्ञान चाहिए...

अन्यथा मुझे न होगा मेरा ज्ञान...निश्चय-व्यवहार से न होगा ज्ञान...(ध्रुव)...

'मैं' हूँ सच्चिदानंद (मय) जीव द्रव्य...स्वयंभू स्वयंपूर्ण अमूर्त द्रव्य...

अनादि अनिधन शाश्वत द्रव्य...अनंतज्ञान दर्शन सुखमय...

किन्तु अभी हूँ 'मैं' सशरीरी मूर्तिक...जन्म-मरण सह अशुद्धमय...

कारण है इसका भौतिक कर्म पुद्गल...मेरे राग द्वेष मोह (भी) बने कारक...(1)...

कहाँ है कर्म व कैसे आये कर्म...कैसे मुझमें बन्धे ये कर्म...

कैसे होऊँगा 'मैं' कर्म से मुक्त...इसी हेतु चाहिए मुझे बोध...

आकाश में रहते हैं कर्म पुद्गल...कर्म आने का कारण आत्मकम्पन...

कर्म आगमन के निमित्त धर्म द्रव्य...कर्मबंध में हेतु (मेरा) विभाव भाव...(2)...
 इसी से संसार में (मेरा) होता भ्रमण...शरीर सह होने से जन्म-मरण...
भ्रमण (गति) हेतु निमित्त धर्म द्रव्य...परिणमन में निमित्त काल द्रव्य...
 जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल...होते है शाश्वत द्रव्य मौलिक (द्रव्य)
 सभी द्रव्य रहते हैं लोक-आकाश में...गमनागमन करते जीव-पुद्गल लोक में...(3)...
 सभी द्रव्यों में परिणमन होता सतत...परिणमन में काल द्रव्य निमित्त...
 गति-स्थिति हेतु धर्माधर्म निमित्त...हर द्रव्य स्वयं ही है मुख्य निमित्त...
कर्मक्षय हेतु संवर-निर्जरा चाहिए...अथ सदृष्टि ज्ञान वृत्त चाहिए...
 इसी हेतु उक्त सभी ज्ञान चाहिए...आत्मविश्वास आत्मशुद्धि चाहिए...(4)...
 आत्मविशुद्धि हेतु विभाव क्षय चाहिए...राग-द्वेष-मोहादि का क्षय चाहिए...
 कर्मक्षय से 'मैं' बनूँगा सच्चिदानंद... 'कनक' बनेगा शुद्ध-बुद्ध-आनंद...(5)...

सन्दर्भ-

एकोभावः सर्वभाव स्वभावः सर्वेभावा एक भाव स्वभावाः।

एकोभावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः।। प्र.सा.

भाव यह है कि एक भाव सर्वभावों का स्वभाव है और सर्वभाव एक भाव के स्वभाव हैं। जिसने निश्चय से यथार्थ रूप से एक भाव को जाना उसने यथार्थ रूप से सर्वभावों को जाना है। यहाँ ज्ञाता व ज्ञेय सम्बन्ध लेना चाहिए, जिसने ज्ञाता को जाना उसने सब ज्ञेयों को जाना ही है।

तच्छालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।

वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं।। (37) प्र.सार

उन प्रसिद्ध शुद्ध जीव द्रव्यों की व अन्य द्रव्यों की वे पूर्वोक्त सर्व सद्भूत और असद्भूत अर्थात् वर्तमान, भूत तथा भविष्य काल की पर्यायें निश्चय से या स्पष्ट रूप से केवलज्ञान में विशेष करके अर्थात् अपने-अपने प्रदेश, काल, आकार भेदों के साथ संकर, व्यतिकर दोष के बिना वर्तमान पर्यायों के समान वर्तती है अर्थात् प्रतिभासती है या स्फुरायमान होती हैं।

(यह कविता कवि (आ. कनकनन्दी) के वैज्ञानिक शिष्यों के कारण व उनके लिए बनी।)

स्वानुभव से ही शुद्धात्मा का यथार्थ कथन संभव (शुद्धात्मा का यथार्थ कथन स्वानुभव बिना अन्य उपायों से सम्यक् नहीं/प्रामाणिक नहीं!)

(चाल : छोटी-छोटी गैया....., तुम दिल की.....)

सर्वज्ञ कथित...आगम लिखित...स्व-शुद्ध आत्मा का होता अनुभव ज्ञान...

अनुभव ज्ञान ही...आत्म प्रत्यक्ष होता...वह ज्ञान होता है...भावश्रुत ज्ञान...(ध्रुव)...

अनुभव बिना केवल आगम से...नहीं होता है भावश्रुत ज्ञान...

भावश्रुत बिना आगम ज्ञान भी...होता है निश्चय से द्रव्य श्रुतज्ञान...

द्रव्य श्रुतज्ञान होता है पौद्गलिक...शब्द अक्षरमय भौतिक ज्ञान...

अथवा केवल होता है मतिज्ञान...केवल मतिज्ञान से न होता आत्मज्ञान...(1)...

मिश्री का अनुभव न होता मिश्री शब्द से...पढ़ो-सुनो या गुणगान करो...

आत्म-अनुभव न होता 'आत्मा' शब्द से...पढ़ो-सुनो या गुणगान करो...

मिश्री चखने से होता है मीठा ज्ञान...आत्मज्ञान होता है अनुभव से...

अनुभव बिना आत्मा का वर्णन...सही न होता है शब्द ज्ञान से...(2)...

तोता के समान या टेप के समान...आत्मा का वर्णन होता यांत्रिक सम...

ऐसा वर्णन न होता पूर्णतः सत्य...न अनुभवगम्य-आत्म प्रत्यक्ष...

गणधर से लेकर आचार्य तक भी...आगम व अनुभव से करते कथन...

स्व-अनुभव से कथन करने पर ही...प्रामाणिक सह होता है कथन...(3)...

स्वानुभव रहित जो कथन होता...शुद्धात्म स्वरूप का न आत्म प्रमाण...

आत्म प्रमाण बिना शुद्धात्मा कथन...नहीं है यथार्थ से प्रत्यक्ष प्रमाण...

आत्मानुभव बिना आत्मा का ज्ञान...नहीं होता है इन्द्रिय ज्ञान से...

इन्द्रियाँ केवल स्थूल जड़ जानती...अमूर्त आत्मा को नहीं जानती...(4)

अतएव शुद्धात्मा के कथन समय में...आत्मानुभव भी होता है प्रमुख...

अतः स्व-अनुभव का भी कथन...करते हैं आत्मानुभवी श्रमण...

यह कथन नहीं है अभिमानपूर्ण...यह तो 'सोऽहं' 'अहं' पूर्ण स्वाभिमान...

शुद्धात्मा कथन या ध्यान कथन में...ऐसा कथन ही है प्रामाणिक कथन...(5)...

अन्यथा तो शुद्धात्मा कथन सभी...होगे व्यापार या राजनीति सम...
लौकिक व्यवहार या सामाजिक सम...इतिहास पुराण या कानून सम...
अज्ञानी मोही व रागी द्वेषी कामीजन...नहीं जानते हैं आत्मानुभव ज्ञान...
अहंकार-ममकार में लिप्त जन...नहीं जानते 'सोऽहं' व 'अहं' ज्ञान...(6)...
आत्मानुभव न होता है भौतिक वस्तु...न बाहर से प्राप्त होने की वस्तु...
आत्मानुभव होता है स्वयं का गुण...स्वयं में स्वयं द्वारा प्राप्त ये गुण...
आत्मानुभव होता है अमूर्तिक ज्ञान...सच्चिदानंदमय स्वयं/(मैं) का ज्ञान...
रत्नत्रय व समता से युक्त ज्ञान...'कनकनन्दी' का स्व-शुद्धात्मा ज्ञान...(7)...
आत्मानुभव ही है सम्यक् ज्ञान...समता-शांति का यह निधान...
इसी से बढ़ता है आत्मानुशासन...इन्द्रिय-कषायों का होता नियंत्रण...
संसार शरीर/(भोग) से होता वैराग्य...ख्याति पूजा लाभ से विरक्त भाव...
ध्यान-अध्ययन-मनन-चिंतन में/(से)...होता है आध्यात्मिक ज्ञान अपूर्व...(8)...

नन्दौड़, दिनांक 06.11.2015, रात्रि 9.40

संदर्भ-

सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा बेत्ति।। (390) समयसार
सद्दो णाणं ण हवदि जम्हा सद्दो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा बेत्ति।। (391)
रे! शास्त्र है नहिं ज्ञान, क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु शास्त्र अन्य प्रभु कहे।।
रे! शब्द है नहिं ज्ञान, क्योंकि शब्द कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु शब्द अन्य प्रभु कहे।।

गाथा- तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं न घेत्तव्वं।। (5) समयसार
छाया- तमेकत्व विभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्वखलेयं छलं न गृहीतव्यम्।।
हिन्दी पद्य- दर्शाऊँ एक विभक्त को, आत्मातने निज विभव से।

दर्शाऊँ तो करना प्रमाण, न छल गहो स्वलना बने।।

अन्वयार्थ- (तं) उस (एकत्वविभक्तं) एकत्व विभक्त आत्मा को (अहं) मैं (आत्मनः) आत्मा के (स्वविभवेन) निज वैभव से (दर्शये) दिखाता हूँ; (यदि) यदि मैं (दर्शयेयं) दिखाऊँ तो (प्रमाणं) प्रमाण (स्वीकार) करना, (स्वलेयं) और यदि कहीं चूक जाऊँ तो (छलं) छल (न) नहीं (गृहीतव्यं) ग्रहण करना।

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति, समाहितान्तः करणेन सम्यक्।

समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां, विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये।। (3) समाधितंत्र परमात्मा को नमस्कार करके अनन्तर मैं पूज्यपाद आचार्य कर्ममल रहित आत्मा के शुद्ध स्वरूप को शास्त्र के द्वारा, अनुमान व हेतु के द्वारा एकाग्र मन के द्वारा अच्छी तरह अनुभव करके कैवल्य पद-विषयक अथवा निर्मल अतीन्द्रिय सुख की इच्छा रखने वालों के लिए अपनी शक्ति के अनुसार कहूँगा।

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।

चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे।। (1) समयसार

प्रगटै निज अनुभव करै, सत्ता चेतनरूप।

सब ज्ञाता लखिके नमौं, समयसार सब भूप।।

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।

तं सुदकेवलमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा।। (9)

जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा।

णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुदकेवलि तम्हा।। (10) समयसार

जो जीव निश्चय से श्रुतज्ञान के द्वारा इस अनुभवगोचर केवल एक शुद्ध आत्मा को सम्मुख होकर जानता है, उसे लोक को प्रगट जानने वाले ऋषीश्वर श्रुतकेवली कहते हैं; जो जीव सर्व श्रुतज्ञान को जानता है, उसे जिनदेव श्रुतकेवली कहते हैं, क्योंकि ज्ञान सब आत्मा ही है, इसलिये (वह जीव) श्रुतकेवली है।

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं,

क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।

किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वकषेऽस्मि-

न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।। (9) अमृतकलश

आचार्य शुद्धनय का अनुभव करके कहते हैं कि इन समस्त भेदों को गौण

करने वाला जो शुद्धनय का विषयभूत चैतन्य-चमत्कार मात्र तेजः पुञ्ज आत्मा है, उसका अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदित नहीं होती, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है, सो हम नहीं जानते। इससे अधिक क्या कहें? द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या

ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।

आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प-

मेकोऽस्ति नित्यमवबोधधनः समन्तात्॥ (13) अमृतकलश

इस प्रकार जो पूर्व कथित शुद्धनय स्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वही यथार्थ में ज्ञान की अनुभूति है, यह जानकर तथा आत्मा में आत्मा को निश्चल स्थापित करके “सदा सर्व ओर एक ज्ञानधन आत्मा है”, इस प्रकार देखना चाहिये।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्टं अणणमविसेसं।

अपदेस संतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं॥ (15) समयसार

जो पुरुष आत्मा को अबद्ध स्पृष्ट, अनन्य, अविशेष (तथा उपलक्षण से नियत व असंयुक्त) देखता है वह सर्व जिनशासन को देखता है-जो जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यन्तर ज्ञानरूप भावश्रुत वाला है।

परामनोवैज्ञानिक व आध्यात्मिक शोधपूर्ण कविता

सकारात्मक-वर्णन : धर्मग्रंथों में सर्वाधिक

(भारतीय धर्मग्रंथों में वर्णित परम-सकारात्मकता)

(चाल : तुम दिल की....., सायोनारा.....)

धर्म में तो सकारात्मक वर्णन...ग्रंथों में सर्वाधिक पाया जाता है...

भले उसका सही परिज्ञान...सभी लोग नहीं कर पाते हैं...(स्थायी)...

आधुनिक विज्ञान से लेकर जो...मोटिवेशन/(मैनेजमेंट) में वर्णन है...

उससे भी अधिक वर्णन तो...धर्मग्रंथों में पाया जाता है...

धर्मग्रंथों में वर्णित है...सच्चिदानंदमय हर जीव है...

सत्य शिव सुंदर अनंत गुणमय...स्वयंभू स्वयंपूर्ण हर जीव है...(1)...

जो जीव स्वयं को ऐसा मानता...उसको होता है आत्मविश्वास...

उसका ज्ञान होता है सम्यग्ज्ञान...विचार होता है सकारात्मक...
 ऐसा जीव नकारात्मक विचारों को...मानता है अनात्म रूप...
 जिससे वह नकारात्मक...विचारों को त्यागने का करे यत्न...(2)...

क्रोध मान माया लोभ ईर्ष्या...द्वेष घृणा वैरत्व अपमान...
 अंधश्रद्धा व अंधानुकरण...चिन्ता निन्दा अभिमान...

हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह...शोषण मिलावट भ्रष्टाचार...
 वाद-विवाद व कलह-झगड़ा...अवसार व दुर्विचार...(3)...

आलस्य प्रमाद किंकर्तव्यमूढता...लक्ष्यहीन व निरुद्देश्य...
 फैशन-व्यसन-विलासिता आदि को...त्यागे नकारात्मक मानकर...

इन बस नकारात्मक भावों को...मानता है पाप स्वरूप...
 जो आत्मा का पतन करे...वह है पाप स्वरूप...(4)...

जिससे आत्मा का होता विकास...उसे मानता है धर्म स्वरूप...
 स्वर्ग से लेकर मोक्ष के...उपाय को मानता है धर्ममय...

आत्म विकास से विश्व कल्याण...तक मानता है धर्ममय...
 आत्म शांति से विश्व शांति...तक मानता है धर्ममय...(5)...

मोक्ष से ही जीव बनता है...पूर्ण सच्चिदानंद स्वरूप...
 अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय...शुद्ध बुद्ध शाश्वत रूप...

केवल भौतिक उपलब्धि हेतुक...नहीं है सकारात्मकता...
 आत्मोपलब्धि के कारणभूत...विचार है परम सकारात्मकता...(6)...

ऐसे परम विचार सहित ही...होते हैं सच्चे धार्मिक...
 ऐसे ही परम विचार/(लक्ष्य) के कारण...‘कनक’ बना है धार्मिक...(7)...

नन्दौड़, दिनांक 28.11.2015, रात्रि 10.29 व 11.41

शुभ व शुद्ध भाव के अचिंत्य फल

(चाल : आत्मशक्ति....., सायोनारा....., भातुकली.....)

शुद्ध लक्ष्य रखकर जो शुभ करते, अचिंत्य वैभव को अवश्य (ही) पाते।

सांसारिक सुख सह मोक्ष (सुख) पाते, शुद्ध-बुद्ध बन आत्मसुख पाते।। (ध्रुव)
यथा वट-बीज विशाल वृक्ष बनता, बीज से वृक्ष अरबों गुणा बढ़ता।
शाख-प्रशाखाओं से भी युक्त बनता, पत्र-फूल-फल से सहित होता।।
पशु-पक्षी कीट-पतंग (भी) आश्रय लेते, छाया में श्रांत-क्लांत विश्राम लेते।
प्रदूषणों को भी वह शोषण करता, खरबों बीजों को भी उत्पन्न करता।। (1)
सुयोग्य क्षेत्रादि से यथा बीज वृक्ष बनता, तथा शुभ-शुद्ध से वैभव मिलता।
शुभ से पुण्य कर्म का संचय भी होता, जिससे सांसारिक वैभव मिलता।।
दया दान सेवा जो परोपकार करते, ख्याति पूजा लाभ बिन शुभ (कर्म) करते।
ध्यान-अध्ययन-तप-त्याग करते, सांसारिक सुख (व) मोक्ष सुख (भी) पाते।। (2)
प्रशस्त भाव से होता शुभ के भाव, राग द्वेष मोह का मंद प्रभाव।
ईर्ष्या तृष्णा घृणादि भी होते हैं मंद, प्रशम-संवेग-आस्तिक्य होते भाव।।
आध्यात्मिक उन्नति का होता है भाव, आत्म विशुद्धि का भी होता है भाव।
उदार सहिष्णु क्षमादि भाव, लक्ष्य रहता (है) मिले शुद्ध स्वभाव।। (3)
ऐसे जो भाव शुभ कर्म करते, राजा-महाराजा के (वे) पाते वैभव।
इन्द्र चक्रवर्ती के भी वैभव पाते, सातिशय पुण्य से तीर्थकर (भी) बनते।।
शुद्ध प्राप्ति हेतु जो बनते श्रमण, सत्ता-संपत्ति त्यागे करे जो ध्यान।
समता शांति आत्म विशुद्धि से, कर्म क्षय से पाते वे आत्म-वैभव।। (4)
मोक्ष में मिलते हैं अनंत वैभव, अनंत ज्ञानदर्शन सुखवीर्य।
अतः सदा शुभ शुद्ध (ही) करणीय, 'कनक' का लक्ष्य है आत्म वैभव।। (5)

नन्दौड़, दिनांक 03.12.2015, प्रातः 7.40

आगम ज्ञान व शुद्धात्मा भावना बिना मुक्ति नहीं

(शुद्धात्मा भावना बिना केवल बाह्य तप-त्याग पूजादि से मुक्ति नहीं)

(चाल : छोटी-छोटी गैया....., सायोनारा.....)

शुद्धात्मा भावना बिना व्रत तपादि, दान दया सेवा पूजा तीर्थ वंदना आदि।

न बनते मोक्ष हेतु न होता सम्यक्त्व, भले इससे मिले स्वर्ग मनुष्य सुख।। (स्थायी)

शुद्धात्मा भावना से ही मिलता सम्यक्त्व, होता है भेद विज्ञान नशे मिथ्यात्व।
 अनंतानुबंधी क्रोध मान मायादि नशे, ज्ञान व चारित्र भी होते सम्यक्॥
 व्रत नियम तप-त्यागादि होते सम्यक्, संवर व निर्जरा भी होते सम्यक्।
 सातिशय बंध होता (है) पुण्य विशेष, सांसारिक सुख (व) मिले मोक्ष सुख॥ (1)
 शुद्धात्मा भावना बिना न होता सम्यक्त्व, सम्यक्त्व बिना तप-त्याग न होते सम्यक्।
 दान दया सेवा पूजा तीर्थ वंदना आदि, पापानुबंधी पुण्य बंधे न मिले मुक्ति॥
 घोर तप-त्याग उपसर्ग सहन आदि, मासोपवास सहित मुनिव्रत आदि।
 सम्यक्त्व बिना न बनते मोक्ष (के) कारण, सम्यक्त्व बिना न होता भेद विज्ञान॥ (2)
 सम्यक्त्व हेतु परमागम ज्ञान चाहिए, आध्यात्म अनुभवी श्रमण गुरु चाहिए।
 पंचलब्धियों का सम्यक् संयोग चाहिए, राग द्वेष मोह का उपशम आदि चाहिए॥
 इसी से (होता है) आत्मा का सही श्रद्धान, जिससे होते सम्यक् व्रत (व) नियम।
 स्वशुद्ध आत्मा का भी होता अनुभव ज्ञान, जिससे निश्चय से मैं हूँ परमात्मा समान॥ (3)
 शुद्धात्मा भावना से/(में) स्व का होता ज्ञान-ध्यान, मैं हूँ शुद्ध-बुद्ध स्वभावी आनंदघन।
 राग द्वेष मोह रहित (हूँ) सच्चिदानंद, तन-मन अक्ष रहित (हूँ) ज्ञानानंद॥
 इसी से आत्म विशुद्धि समता बढ़ती, राग द्वेष मोह की भी शक्ति घटती।
 ईर्ष्या तृष्णा घृणा की शक्ति नशती, ख्याति पूजा लाभ की इच्छा न होती॥ (4)
 इसी से ही आत्मा की प्रगति होती, संवर निर्जरा सहित मुक्ति मिलती।
 जिससे मिलता आत्मिक अनंत सुख, 'कनकनंदी' का लक्ष्य आत्मिक सुख॥ (5)

नन्दौड़, दिनांक 06.12.2015, प्रातः 6.10

धर्म व अध्यात्म में समानता व अंतर

(चाल : तुम दिल की धड़कन.....)

धर्म है वस्तु स्वभावमय जो, हर द्रव्य में स्थित होता है।

जीव-अजीव व मूर्तिक-अमूर्तिक, हर द्रव्य धर्ममय होता है॥

आध्यात्मिक है जीव का शुद्ध स्वरूप, जो चैतन्य स्वरूप होता है।

ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय व, सच्चिदानंद स्वरूप होता है।

हर द्रव्य में स्थित गुणों को 'स्वभाव' 'शक्ति' या 'धर्म' कहते हैं।
'लक्षण' या 'विशेष' रूप में भी, धर्म का कथन भी करते हैं। (1)

हर द्रव्य में होते सामान्य गुण, 'अस्तित्व' 'वस्तुत्व' व 'द्रव्यत्व'।

'प्रमेयत्व' 'अगुरुलघुत्व' 'प्रदेशत्व' सहित होते हर द्रव्य।

किन्तु जीवों में होते विशेष गुण, अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय।

अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह समता शांति क्षमामय। (2)

आत्मविश्वास अनुभवज्ञान, सदाचरण सहिष्णुता उदारमय।

भेद-विज्ञान युक्त विवेकज्ञान, ध्यान-अध्ययन व तप-त्याग।

शुद्ध-बुद्ध व परमात्म अवस्था, होती है परम आध्यात्मिकमय।

इसे प्राप्त हेतु जो होती है प्रक्रिया, उसे भी कहते हैं धर्ममय। (3)

यथा पूजा-पाठ जप आराधना, तीर्थयात्रा वंदना प्रार्थना स्तवन।

दान दया सेवा व परोपकार, वैयावृत्ति सहयोग-उपवास-मौन।

किन्तु आध्यात्मिक बिना उक्त धर्मकाम से, नहीं मिलती है परम मुक्ति।

भले इसी से मिले सांसारिक सुख, भोगोपभोग-ख्याति-पूजा-प्रसिद्धि। (4)

इसी से संसार में ही परिभ्रमण होता, चौरासी लाख योनि व चतुर्गति में।

जन्म-जरा-मरण-रोग-शोक मिलते, परम सुख न मिले संसार में।

मोक्ष प्राप्ति हेतु (अतः) जीवों को आध्यात्मिक, चाहिए जीवों का शुद्ध स्वरूप।

अतएव 'कनकनन्दी' आध्यात्मिक, सेवन करे पाने को शुद्ध स्वरूप। (5)

संदर्भ-

सहहृदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।

धम्म भोग-णिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं।। (275) समयसार

अभव्य जीव नित्य कर्मफल चेतना रूप वस्तु की श्रद्धा करता है किन्तु नित्य ज्ञान चेतना मात्र वस्तु की श्रद्धा नहीं करता क्योंकि वह सदा (स्व-पर के) भेद-विज्ञान के अयोग्य है। इसलिये वह कर्मों से छूटने के निमित्त रूप, ज्ञानमात्र, भूतार्थ (सत्यार्थ) धर्म की श्रद्धा नहीं करता, भोग के निमित्त रूप, शुभ कर्म मात्र, अभूतार्थ धर्म की ही श्रद्धा करता है; इसलिये वह अभूतार्थ धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रूचि और

स्पर्शन से ऊपर के ग्रैवेयक तक के भोग मात्र को प्राप्त होता है किन्तु कभी भी कर्मों से मुक्त नहीं होता। इसलिये उसे भूतार्थ धर्म के श्रद्धान का अभाव होने से (यथार्थ) श्रद्धान भी नहीं है।

नन्दौड़, दिनांक 06.12.2015, रात्रि 8.00

(जीव एवं कर्म सिद्धांत संबंधी शोधपूर्ण कविता)

विश्व के सभी जीवों की अवस्थाएँ व मोक्ष अवस्था

(चाल : आत्मशक्ति....., तुम दिल की.....)

जीवों के शुभाशुभ परिणामों से (कर्म) परमाणु परिणमते कर्म रूप से।

जीवों के असंख्यात (लोक प्रमाण) परिणामों से, कर्म बनते असंख्य रूप से॥ (ध्रुव)

कर्म परमाणु तो जड़ रूप है, उनमें नहीं है चैतन्य गुण।

राग-द्वेष-काम-क्रोध-मद-मोह, नहीं होते हैं ज्ञान सुखादि गुण॥

शुद्ध चैतन्य गुण होते हैं शुद्ध, ज्ञान दर्शन सुख वीर्य गुण।

राग द्वेषादि होते हैं जीव व, कर्म परमाणु के मिश्रित गुण॥ (1)

अतः राग-द्वेषादि की नहीं स्वतंत्र, शुद्ध रूप से मौलिक सत्ता।

ये तो अशुद्ध व मिश्र अवस्था, जिसके अस्तित्व से सांसारिक सत्ता॥

जीवों में भी है अनंत शक्ति (तथाहि) अनंत शक्ति कर्म परमाणु में।

परस्पर की बंध अवस्था में प्रगट, न होती दोनों की अनंत शक्ति॥ (2)

दोनों ही दोनों की शक्ति खण्डित करते, जिससे दोनों होते दुर्बल।

दोनों के अशुद्ध परिणमन से, सूक्ष्म जीवों से बनते मानव तक॥

चौरासी लाख योनि मध्य में, इस चतुर्गति रूप संसार में।

अनादि अनंत काल से जीव, भ्रमण करते पंच परिवर्तन में॥ (3)

जीव है अनंत, काल है अनंत, कर्म (परमाणु) है अनंतानंत संसार में।

भाव-कर्म अनुसार जीव जन्मते, मरते विभिन्न प्रजाति में॥

सूक्ष्म जीव भी मरकर बनते हैं, विशाल जीव अन्य प्रजाति में।

विशाल जीव भी मरकर बनते हैं, सूक्ष्म जीव अन्य प्रजाति में॥ (4)

शरीर इन्द्रिय मन का भी होता, क्रम विकास व ह्रास भी।

ऐसा परिणमन अनंतबार भी संभव, मोक्ष प्राप्ति के पूर्व ही।।

जो मानव आध्यात्मिक विकास करते, वे प्राप्त करते मोक्ष ही।

मोक्ष ही जीवों का परम विकास, यह सच्चिदानंद स्वरूप ही।। (5)

परम अवस्था प्राप्ति के अनंतर, संसार में न होता पुनरागमन।

जन्म-जरा-मृत्यु-रोग-शोक रहित, तथाहि राग-द्वेष-मोह से (पूर्ण) शून्य।।

इन सब विषयों को भौतिक विज्ञानी, दार्शनिक तक नहीं जानते।

इन कारणों से उनके मत सार्वभौम (व) परम सत्य भी नहीं होते।। (6)

यह सब ज्ञानगम्य सर्वज्ञ द्वारा, पूर्वाचार्यों द्वारा भी ग्रंथ लिखित।

उनके अध्ययन मनन द्वारा, 'कनकनन्दी' द्वारा यह काव्य लिखित।। (7)

नन्दौड़, दिनांक 07.12.2015, रात्रि 7.55

वैयावृत्ति से तीन काल के सभी तीर्थकर आदि पूजित होते

(चाल : छुप गया कोई रे....)

वैयावृत्ति महान् है तीर्थकर (भी) बताते, उत्कृष्ट वैयावृत्ति करे वे तीर्थकर बनते।

अठारह गुणों से वे मंडित भी होते, सातिशय पुण्य से वे तीर्थकर बनते।। (स्थायी)

आहार-औषधि-ज्ञान-अभयदान देते, वसतिका व उपकरण दान देते।

शरीर मर्दन व उपसर्ग दूर करते, मलमूत्र विसर्जन से वैयावृत्ति करते।। (1)

उनसे तीन काल के सभी तीर्थेश होते पूजित, सिद्ध-साधु-धर्म भी होते पूजित।

तीर्थेशों की आज्ञा पालन से ये सभी होते, नवकोटि से जो वैयावृत्ति करते।। (2)

वैयावृत्ति करते वे पात्र-लाभ करते, दुर्गुण नाशकर वे (भी) सुगुणी होते।

दाता व पात्र दोनों (भी) उपकृत होते, दान-धर्म पुण्य को भी परस्पर पाले।। (3)

आहार दान में ही पंचाश्रय (भी) होते, पंचकल्याणक में (भी) पंचाश्रय न होते।

इसी से सिद्ध होती वैयावृत्ति की महिमा, धर्मतीर्थ-दानतीर्थ दोनों की गरिमा।। (4)

वैयावृत्ति अंतरंग तप साधु भी करते, ज्ञानदान सेवादि से साधु की करते।

स्वाध्याय से भी महान् तप वैयावृत्ति बताया, वात्सल्य विनय आदि गुण सह बताया।। (5)

वैयावृत्ति न करे वे धर्म बाह्य होते, तीर्थकर आज्ञा भंग धर्मनाश करते।
 आचार लोप आत्मा व साधु त्याग करते, प्रवचन लोप कर वे मिथ्यादृष्टि होते॥ (6)
 अतः वैयावृत्ति महान् जीवन्त धर्म, इसके बिना न प्रवर्ते मोक्ष का मार्ग।
 निश्चय-व्यवहारमय होता मोक्षमार्ग, 'कनक' सेवन करता दोनों ही मार्ग॥ (7)
 नन्दौड़, दिनांक 19.11.2015, प्रातः 6.30

कर्ता व भोक्ता स्वयं जीव (अच्छे-बुरे या धर्म सब कुछ जीव स्वयं के लिए करते)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : छोटी-छोटी गैया.....)

जो कुछ भी जीव करते हैं व सोचते, स्वयं के लिए ही वे करते हैं।
 अच्छे बुरे या धार्मिक सभी के, फल स्वयं को ही तो मिलते हैं॥ (1)
 मन-वचन-काय कृत कारित से, करते भी जीव जो अनुमत से।
 पुण्य-पाप या धर्म-अधर्म सभी, करते हैं जीव स्वयं के ही लिए॥ (2)
 क्रोध-मान-माया-लोभ-काम-मोह, हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील-परिग्रह।
 दान-दया-सेवा-त्याग-परोपकार, ध्यान-अध्ययन-तप स्वयं के लिए॥ (3)
 ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा-परनिंदा-अपमान, मिलावट-शोषण आदि कुकाम।
 समता-शांति व क्षमा-सहिष्णुता, स्वयं के फल को जीव स्वयं ही पाते॥ (4)
 सुकृत-दुष्कृत व आध्यात्मिक के फल, पाते हैं जीव स्व-भाव-व्यवहार से।
 बीजानुसार ही यथा फल-फूल आते, भोजन अनुसार यथा परिणाम पाते॥ (5)
 नवकोटि से जीव जो कर्म बांधते, तदनुकूल जीव फल को पाते।
 पुण्य से अभ्युदय तो पाप से पतन, इह-परलोक में फल ये पाते॥ (6)
 ध्यान-अध्ययन व तप-त्याग से, समता-शांति व सहिष्णुता से।
 आत्मविशुद्धि से पुण्य-पाप नष्ट कर, शुद्ध-बुद्ध व ज्ञानानंद को पाते॥ (7)
 अतः हर जीव स्वयं के सुख हेतु, पाप त्यागकर करना चाहिए पुण्य।
 शाश्वतिक सुख हेतु कर्म नाशकर, बनना श्रेय है सच्चिदानंदमय॥ (8)
 कर्म सिद्धांत का रहस्य भी यह है, मनोवैज्ञानिक व आध्यात्मिक रहस्य।

इह-परलोक आध्यात्मिक सुख के उपाय, आध्यात्मिक सुख ही 'कनक' का अंतिम लक्ष्य।। (9)

नन्दौड़, दिनांक 07.11.2015, रात्रि 7.45

संदर्भ-

एवं कत्ता भोक्ता होज्जं अप्पा सगेहिं कम्मोहिं।

हिंडदि पारमपारं संसारं मोहसंच्छण्णो।। (69)

इस प्रकार अपने कर्मों का कर्ता-भोक्ता होता हुआ आत्मा मोहाच्छादित वर्तता हुआ अनंत संसार में परिभ्रमण करता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है-

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।

जो जस करहिं फलहि तस चाखा।।

अमितगति आचार्य ने कहा भी है-

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।

परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा।। (30)

पहले जो जीव पुण्य एवं पाप कर्म करता है उसका ही फल शुभ एवं अशुभ रूप से प्राप्त करता है। यदि कोई दूसरे के द्वारा दिये गये शुभ या अशुभ फल को प्राप्त होने लगे तो स्वयं किया हुआ कर्म निरर्थक हो जायेगा।

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्याऽपि ददापि किंचन।

विचार यत्रेवमनन्य मानसः, परो ददातीति विमुञ्च श्रेमुषीम्।। (31)

(सामायिक पाठ)

अपने उपार्जित कर्म छोड़कर कोई भी प्राणी किसी भी प्राणी को कुछ भी सुख या दुःख नहीं देता है ऐसा विचार करते हुए हे आत्मन्! तू एकाग्रचित्त हो और दूसरा देता है इस बुद्धि को छोड़।

यथार्थ ज्ञान=अज्ञान-निवृत्ति, हित-प्राप्ति, अहित परिहार

(चाल : छोटी-छोटी गैया....., तुम दिल की....., सायोनारा.....)

हित की प्राप्ति अहित-परिहार, जिससे होता वह यथार्थ/(सम्यक्) ज्ञान।

अन्य सभी तो जानकारी मात्र है, लौकिक हो या धार्मिक/(आध्यात्मिक) ज्ञान।। (धृ.)

यथा प्रकाश से अंधेरा दूर होता, नवीन अंधेरा भी न होता प्रवेश।
दृश्यमान पदार्थ भी दिखायी देता, ग्राह्य प्राप्त, अग्राह्य होता परिहार।।

तथाहि जब होता यथार्थ ज्ञान, अज्ञान-अंधकार भी होता दूर।
हित-अहित का होता परिज्ञान, हित ग्राह्य होता अहित परिहार।।

यथार्थ ज्ञान होता आत्मश्रद्धा से, यथार्थ स्वरूपमय आत्मविश्वास से।
सच्चिदानंदमय होता आत्मा, इससे भिन्न सभी होते अनात्मा।।

राग द्वेष मोह काम क्रोधादि सभी, सत्ता-संपत्ति व प्रसिद्धि डिग्री।
शत्रु-मित्र अपना-पराया आदि, तन-मन-इन्द्रिय विकार बुद्धि।।

ये सब अनात्मा (अतः) होते अहित, इसके परिहार से होता आत्महित।
सच्चिदानंदमय आत्महित, इसके ग्रहण में होता आत्महित।।

यह परम आध्यात्मिक ज्ञान स्वरूप, व्यवहार-गौण में होता प्रवृत्त।
हिंसा-झूठ-कुशील-चोरी परिग्रह, फैशन-व्यसनो से होता निवृत्त।।

अन्याय-अत्याचार-शोषण-मिलावट, दूर होता भ्रष्टाचार आतंकवाद।
निन्दा-चुगली-अपमान-वैरत्व, त्याग होता ईर्ष्या घृणा तृष्णा विवाद।।

न्याय (नीति) सदाचारादि होता ग्रहण, सादा जीवन उच्च विचार उदारमन।
समता शांति का होता ग्रहण, ये सब (होते) यथार्थ से सम्यग्ज्ञान।।

अन्यथा ज्ञान न होता यथार्थ ज्ञान, जानकारी मात्र या दिखावा ज्ञान।
ज्ञान का फल होता सदाचरण, 'कनक' का लक्ष्य पूर्ण आत्म-विज्ञान।।

नन्दौड़, दिनांक 21.11.2015, रात्रि 10.00

संदर्भ-

हिताहित प्राप्ति परिहार समर्थ हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्।। 'परीक्षामुख' (2)
जिससे हित की प्राप्ति अहित का परिहार होता है वह प्रमाण है जो कि
सम्यग्ज्ञान स्वरूप है।

अज्ञान निवृत्तिहानोपादानोपेक्षाश्च फलम्। (प.मुख सूत्र 1 अध्याय 5)

अज्ञान की निवृत्ति अहित का त्याग, हित की प्राप्ति, वीतराग स्वरूप निरपेक्षरूप
समता भाव यह सम्यग्ज्ञान का फल है।

अभव्य-पापी जीवों को आत्मज्ञान नहीं मिलता

(चाल : छिप गया कोई रे....)

आत्मज्ञान महान् है अभव्य न पाते/(करते), मोक्ष पाने वाले ही आत्मज्ञान करते।
सत्ता-संपत्ति/(डिग्री) हेतु तो मोही ज्ञान करते, आत्म विकास हेतु ज्ञान न करते।। (स्थायी)

आत्मज्ञान बिना कोई न सुज्ञानी होते, राजा-महाराजा चक्री-देव क्यों न होते।

दार्शनिक कवि विज्ञानी लेखक क्यों न होते, आत्मज्ञान बिना वे सभी कुज्ञानी होते।। (1)

आत्मज्ञान से ही जीव सुज्ञानी होते, सुज्ञानी जीव ही आत्मविश्वासी/(श्रद्धानी) होते।

जिससे उनका लक्ष्य महान् होता, समता-शांतिमय अध्यात्म होता।। (2)

अतः अन्याय-अत्याचार वे न करते, फैशन-व्यसन व दंभ करते।

शालीन सदाचारी सभ्य वे होते, दया दान सेवा व परोपकार करते।। (3)

मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ होते, वैर विरोध ईर्ष्या घृणा न करते।

सरल-सहज संतोषी अनिंदक होते, हिंसा झूठ चोरी कुशील से निवृत्त होते।। (4)

परम आत्मज्ञान हेतु सर्वस्व त्यागते, विद्वान् चक्रवर्ती (तक) भी साधु हो जाते।

आत्म विशुद्धि से पूर्ण आत्मज्ञ होते, अनंत ज्ञान दर्श सुख वीर्य को पाते।। (5)

यही है जीवों का परम-विकास, शुद्ध-बुद्ध-आनंद व ध्रुव स्वभाव।

इंद्र चक्रवर्ती से भी अनंत वैभव, जन्म-जरा-मरण रहित अमृत भाव।। (6)

(ऐसे) परम आत्मज्ञान को मोही न जानते/(मानते), सांसारिक कुज्ञान में ही आसक्त होते।

लौकिक पढ़ाई हेतु (तो) आसक्त होते, स्व-आत्मज्ञान से विमुक्त होते।। (7)

मद्य व्यसनी यथा मद्य को चाहते, मोहासक्त जीव तथा कुज्ञान चाहते।

जिससे संसार में परिभ्रमण करते, अनंत दुःखों को वे सहन करते।। (8)

स्व-शुद्धात्म ज्ञान ही है परम ज्ञान, जिससे जीवों को मिलता परिनिर्वाण।

अमृतमय यह है आध्यात्म ज्ञान, 'कनकनन्दी' का यह स्व-आत्मज्ञान।। (9)

नन्दौड़, दिनांक 23.11.2015, रात्रि 7.55

सभी संसारी जीव कर्माधीन व मुक्त ही स्वाधीन

(आध्यात्मिक दृष्टि से पराधीन (दास, गुलाम))

(चाल : सायोनारा....., भातुकली....., तुम दिल की.....)

कर्माधीन जो जीव होते हैं, वे सभी होते हैं पराधीन।

वृक्ष से लेकर चक्रवर्ती तक, सभी होते हैं कर्माधीन। (स्थायी)

इसी दृष्टि से मालिक-मजदूर सभी होते हैं पराधीन।

राजा-प्रजा व सम्राट-दास, सभी होते हैं गुलाम।

कर्माधीन सभी संसारी जीव, कर्म से होते हैं परिचालित।

जन्म-मरण रोग-भूख-प्यास से, होते हैं सभी पीड़ित।। (1)

क्रोध-मान-माया-ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा से भी होते (वे) पीड़ित।

भय-मैथुन-परिग्रह-निद्रा से भी होते हैं प्रभावित।

इन सब कारणों से युक्त होने से, उन्हें न मिले परम शांति।

संकल्प-विकल्प-संक्लेश (के) कारण, नहीं मिलती है पूर्ण तृप्ति।। (2)

जिसके कारण उन्हें क्षोभ होता, जिससे आकर्षण-विकर्षण होता।

जिससे द्वंद व संघर्ष (भी) होता, जिससे दुःख ही बढ़ता जाता।

आक्रमण युद्ध व हत्या करते, चोरी मिलावट शोषण भी।

फैशन-व्यसन व भ्रष्टाचार भी, करते अन्याय अत्याचार भी।। (3)

इसलिए कर्माधीन संसारी नहीं, होते हैं पूर्ण स्वाधीन (मालिक)।

पूर्ण स्वाधीनता को पाने के लिए, चक्रवर्ती भी बनते हैं श्रमण।

श्रमण बनकर आत्म साधना से, संपूर्ण कर्मों से वे मुक्त।

जिससे वे शुद्ध-बुद्ध बनकर, पाते हैं आत्माधीन सुख।। (4)

कर्म-विजयी ही होते आत्म-विजयी, वे ही होते हैं विश्व-विजयी।

वे ही होते हैं परमस्वाधीन, इस हेतु श्रमण बना 'कनकनन्दी'।। (5)

नन्दौड़, दिनांक 29.11.2015, रात्रि 10.45

हित-मित-प्रिय बनाम हित-अमित-अप्रिय

(चाल : यमुना किनारे....., छोटी-छोटी गैया....., शत-शत वंदन.....)

हित-मित-प्रिय वचन कथन करो!

अहितकर मित-प्रिय वचन न बोलो!

हितकर कटु व अमित कहा भी करो!

सद्गुरु सुवैद्य सम काम ही करो!! (1)

हित-मित-प्रिय तो सामान्य कथन,

सामान्य जन हेतु (यह) सही कथन।

सामान्य परिस्थिति में गुरु का (यही) कथन,

सामान्य विाेष में भी हितकर (ही) कथन॥ (2)

वैध (यथा) रोग दूर हेतु दे (कटु) औषधि,

दोष दूर हेतु (तथा) सद्गुरु की (कटु) कथनी।

विपाक मधुर कटु औषधि व कथनी,

तन-मन-आत्म रोग दूर के कारण॥ (3)

सद्गुरु छोटा दोष बड़ा कर (भी) कहते,

समझाने हेतु विषय विस्तार करते।

अतएव मित-प्रिय (सदा) ही न बोलते,

हितकर वचन सदा ही बोलते॥ (4)

ठग चापलुस वैश्या सम प्रिय कथन,

कथनीय क्रूर सम न कटु वचन।

वाचाल सम न विधेय अति कथन,

स्व-पर हितकारी वचन ही 'कनक' मान्य॥ (5)

ग.पु.काँ., सागवाड़ा, दिनांक 23.12.2015, रात्रि 10.50

भाव विशुद्धि हेतु ही करणीय धर्म

(अशुभ-शुभ-शुद्ध भाव से होता है पाप-पुण्य व मोक्ष)

(चाल : आत्मशक्ति से ओतप्रोत.....)

आत्म विशुद्धि के लिए ही पालनीय है सदा धर्म।

दान पूजा तीर्थयात्रा तप-त्याग ध्यान व अध्ययन॥ (ध्रुव)

आत्म विशुद्धि रहित जो करते हैं बाह्य धर्म।

ख्याति पूजा व लाभ हेतु राग द्वेष सहित हो धर्म॥

सातिशय पुण्य का न होता बंध नहीं होता है पाप नाश।

पापानुबंधी होता पुण्यबंध संसार न होता नाश॥ (1)

मिथ्यात्व सहित जो दिखावा हेतु करते हैं धर्म।

सत्ता संपत्ति प्रसिद्धि हेतु निदान सहित पालते धर्म॥

उन्हें न यथार्थ से होता पुण्य, पुण्य बंधता है अतिकम।

पाप की निर्जरा भी नहीं होती, नहीं मिलता है मोक्षधाम॥ (2)

जप करता हुआ सेठ, पानी-पानी का किया ध्यान।

मरकर स्व-बावड़ी में ही, मेंढक योनि में लिया जन्म॥

जाति स्मरण के बाद महावीर के दर्शन हेतु चल पड़ा।

कमल-दल मुख में लेकर, शुभ-भाव में चल पड़ा॥ (3)

मार्ग में ही श्रेणिक के, हाथी के पैर से कुचल मरा।

अंतर्मुहूर्त में देव बनकर, समवशरण में पहुँच गया॥

आकाशगामिनी विद्या सिद्धि हेतु, सेठ ने णमोकार मंत्र जपा।

शंका के कारण से विद्या को, वह सिद्ध न कर पाया॥ (4)

शंका रहित हो चोर ने, आण-ताण का जप किया।

शुभ भाव व एकाग्रता से, विद्या को शीघ्र सिद्ध किया॥

पुण्य पाप (व) बंध-मोक्ष सभी, होते हैं परिणामों से।

शुभ भावों से पुण्य बंध, पाप (होता) अशुभ परिणामों से॥ (5)

शुद्ध भाव से होता है मोक्ष, भाव ही मुख्य सभी में।

शुभ व शुद्ध भाव, करणीय (है) दान पूजादि में।
शुभ व शुद्ध भाव हेतु, धार्मिक क्रियाएँ हैं निमित्त (करण, साधन)।
बाह्य निमित्त के माध्यम से, पावन करणीय चित्त/(परिणाम)॥ (6)

साधन बिना न कभी, होती है साध्य की सिद्धि।

साधन ही जब बाधक बनते, तो दूर हो जाती सिद्धि॥

लक्ष्य हो मोक्ष साधन तो, समुचित पावन हो चित्त।

साध्य मिलेगा अवश्य, 'कनक' वर्णन किया आगमोक्त॥ (7)

स्व-स्व भूमिका में व्यवहार, धर्म भी सदा पालनीय।

भाव विशुद्धि हेतु व्यवहार धर्म सदा भी पालनीय॥

राग द्वेष मोह के क्षीण से होता है भाव विशुद्ध।

ईर्ष्या तृष्णा घृणा निन्दादि, त्याग से होता भाव विशुद्ध॥ (8)

द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं,

भावस्य शुद्धिमधिकामधिगन्तु कामः।

आलम्बनानि विविधान्यवलम्ब्य वल्गान्,

भूतार्थ-यज्ञ-पुरुषस्य करोमि यज्ञम्॥ (संस्कृत पूजा)

अपने भावों की परम शुद्धता को पाने का अभिलाषी मैं आगमानुकूल जल, चन्दनादि द्रव्यों की शुद्धता को पाकर जिनस्तवन, जिनबिम्ब दर्शन आदि अनेक आवलंबनों का आश्रय लेकर भूतार्थ रूप पूज्य अरहंतादि का पूजन करता हूँ।

अर्हत् पुराणपुरुषोत्तम पावनानि,

वस्तून्यूननमखिलान्ययमेक एव।

अस्मिन् ज्वलद्विमल केवल बोध वह्नौ,

पुण्य समग्र महमेकमना जुहोमि॥ (संस्कृत पूजा)

हे अर्हन्! हे पुराण पुरुषोत्तम! यह असहाय मैं इन पवित्र समस्त जलादि द्रव्यों का आलंबन लेकर अपने समस्त पुण्य को इस दैदीप्यमान निर्मल केवलज्ञान रूपी अग्नि में एकाग्रचित्त होकर हवन करता हूँ।

ग.पु.काँ., सागवाड़ा, दिनांक 27.12.2015, रात्रि 8.37

(यह कविता स्वाध्याय के समय में श्रीमती मधुबाला (अध्यापिका) के द्वारा की गई जिज्ञासा के समाधान में बनी।)

(व्यवहार-निश्चय सम्यग्दर्शन संबंधी शोधपूर्ण कविता)

देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से

स्व-शुद्धात्मा का श्रद्धान है : सम्यग्दर्शन

(वर्तमान में सच्चे गुरु से ही तीनों की होती है श्रद्धा-प्रज्ञा)

(चाल : तुम दिल की धड़कन....., सायोनारा.....)

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का जो, श्रद्धान करते हैं भव्य प्राणी।

वे होते हैं सम्यग्दृष्टि, कहती है श्री जिनवाणी।।

देव की वर्तमान पर्याय ही, मेरी है भावी पर्याय।

मेरी पर्याय अभी तो अशुद्ध, देव की शुद्ध पर्याय।।

तप त्याग ध्यान अध्ययन से, मुझे भी बनना है देव/(शुद्ध)।

ऐसी जब होती है श्रद्धा/(आत्मविश्वास), तब होता है सम्यक्त्व।। (1)

स्वयं के द्रव्य-गुण पर्यायों को, जानता है जिनवाणी।

मैं हूँ जीव द्रव्य मुझमें चैतन्य गुण, अशुद्ध हूँ (पर्याय) मैं अनादि से।।

जिनवाणी से जानता है द्रव्य, तत्त्व व नव पदार्थों को।

स्वयं में भी उन द्रव्यादि को, घटित करता है स्वयं को।। (2)

स्वयं में भी होते हैं आस्रव बंध, संवर निर्जरा व मोक्ष।

पुण्य-पाप भी स्वयं में होते, ऐसी श्रद्धा से होता सम्यक्त्व।।

देव स्वरूप होता है मोक्ष, शास्त्र है मोक्ष कथक।

गुरु होते हैं मोक्ष पथिक, तीनों के श्रद्धान से सम्यक्त्व।। (3)

मोक्ष पथिक है चारित्रमय, जो है रत्नत्रय आराधक।

मोक्षमार्ग के जीवन्त रूप, गुरु तरण-तारण जहाज।।

पंचमकाल में तो सच्चा गुरु ही, तीनों रत्न के हैं प्रतिनिधि।

देव को बताने वाले गुरु होते, पढ़ाते हैं वे श्री जिनवाणी/(श्रुतनिधि)।। (4)

इसी हेतु ही (सच्चे) देवशास्त्र गुरु का, श्रद्धान होता है सम्यग्दर्शन।

तीनों के माध्यम से स्व-श्रद्धान से होता है सम्यग्दर्शन।।

देवशास्त्र गुरु रूपी निमित्त से, स्व का जब होता है श्रद्धान।

तब होता है सम्यग्दर्शन, दर्पण से यथा स्व-बिम्ब दर्शन॥ (5)

अंधा यथा दर्पण से भी न देख पाता है स्व-प्रतिबिंब।

तथाहि अभव्य व घोर मिथ्यादृष्टि को, नहीं होता है सम्यक्त्व॥

भद्र मिथ्यादृष्टि भी यदि करता है भक्ति तीनों की।

वह भी सांसारिक सुख भोगे, (ऐसी) शक्ति निरतिशय पुण्य की॥ (6)

सम्यग्दृष्टि तो सातिशय पुण्य से, भोगता है सांसारिक सुख।

साधु बनकर पाये मोक्ष सुख, 'कनक' का लक्ष्य आत्म सुख॥

यथा दीपक के सम्पर्क से, बुझा हुआ दीपक होता प्रज्वलित।

तथाहि देवशास्त्र गुरु से, सम्यक्त्व होता प्रगट॥ (7)

चुम्बक के घर्षण से यथा, लोहा बनता है चुम्बक।

तथाहि देवशास्त्र गुरु की भक्ति/(श्रद्धा) से भव्य को होता सम्यक्त्व॥

अग्नि से (यथा) ईंधन अग्नि बनती, तथाहि निकट भव्य।

देवशास्त्र गुरु की श्रद्धा से, स्वयं में प्रगट करता सम्यक्त्व॥ (8)

देवशास्त्र गुरु के माध्यम से, स्वगुण में ही हुआ सम्यक्त्व।

स्व-श्रद्धा प्रज्ञा के कारण, मिथ्या श्रद्धा हो गई सम्यक्त्व॥

अतएव हे! भव्य जीव, स्व-विभाव को करो परिवर्तन।

देवशास्त्र गुरु निमित्त से, पाओ तुम सम्यग्दर्शन॥ (9)

देवशास्त्र गुरु रूपी निमित्त से, न करो हे! राग द्वेष मोह।

राग द्वेष मोह क्षय करके, पाओ हे! आध्यात्मिक सुख॥

(6) द्रव्य सप्त तत्त्व नव पदार्थ व देवशास्त्र गुरु श्रद्धान।

होता है व्यवहार सम्यग्दर्शन, स्व-शुद्धात्म रूचि निश्चय श्रद्धान॥ (10)

(व्यवहार व निश्चय सम्यक्त्व का समन्वय प्रायः शिष्य वर्ग नहीं कर पाते हैं। उनको समझाने के लिए यह कविता बनी।)

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 01.01.2016, रात्रि 8.38 व प्रातः 6.42

(Happy New Year)

स्व-शुद्धात्म श्रद्धान से होता है धर्म का शुभारंभ (नैतिकता से परे भी है आध्यात्मिकता)

(नैतिकता बिना धर्म नहीं व केवल नैतिकता ही धर्म नहीं)

(चाल : शत-शत वंदन....., आत्मशक्ति.....)

भोगभूमि के तिर्यच मनुष्य भी, नहीं भोगते हैं सप्त-व्यसन।

क्रोध-मान-माया-लोभ भी होता (है) मंद, बाह्य पंच पाप भी न करते सेवन॥ (1)

भले वे होते हैं सम्यग्दृष्टि अथवा, मिथ्यादृष्टि या अभव्य।

सभी ही मानव पशु-पक्षी भी, पालन करते हैं उक्त कर्तव्य॥ (2)

मिथ्यादृष्टि जीव जो होते यथायोग्य, उपरोक्त गुणों से सहित भी होते।

देव दर्शन भी करते वे देव, तथापि वे न होते सच्चे धार्मिक॥ (3)

इसी से यह सिद्ध होता (है) उक्त सभी, कर्तव्य होते हैं नैतिक गुण।

व्यक्ति से लेकर विश्व मानवों को, पालनीय उपरोक्त कर्तव्य गण॥ (4)

तन-मन-इन्द्रिय स्वास्थ्य के लिए, तथाहि सामाजिक सुव्यवस्था हेतु।

हर मानवों को प्राकृतिक रूप से, सेवनीय उक्त गुण सभ्यता हेतु॥ (5)

यथा मछली तैरती (है) पानी में, अंतरिक्ष में उडते (हैं) विहंगम।

तथाहि सभ्य नैतिक मानवों को, पालनीय उक्त कर्तव्य गण॥ (6)

निरतिशय होता पुण्य बंध किन्तु, न होता सातिशय पुण्य बंध।

सांसारिक तुच्छ भोग मिले किन्तु, नहीं मिलता है मोक्ष सुख॥ (7)

इसी से आगे धर्म होता प्रारंभ, जो होता है आध्यात्ममय।

आत्मविश्वास व आत्मज्ञान सहित, आत्म परिणाम विशुद्धमय॥ (8)

आत्मविश्वास में होता है श्रद्धान, मैं हूँ सच्चिदानंद अमूर्तमय।

तन-मन-अक्ष राग द्वेषादि रहित, मैं शुद्ध-बुद्ध व आनंदमय॥ (9)

तन-मनादि मेरे नहीं शुद्ध रूप, ये सभी तो विकारी कर्मज रूप।

इसी से परे होने के लिए होता है, लक्ष्य-आचरण भी होता तदनुरूप॥ (10)

ऐसा श्रद्धान सहित जब पालन करता, उपरोक्त सभी नैतिक कर्तव्य।

तब ही बनते उक्त सभी कर्तव्य, धार्मिकमय आध्यात्मिक कर्तव्य॥ (11)

उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विशुद्धि होने से, संसार शरीर से होता विरक्त।
 ध्यान-अध्ययन व आत्म विशुद्धि से, अंत में पाता है कर्मों से मुक्त॥ (12)
 आगम में इसे कहते गुणस्थान आरोहण, चतुर्थ गुणस्थान से धर्म प्रारंभ।
 स्व-शुद्धआत्मा की श्रद्धा व प्रज्ञा से, चतुर्थ गुणस्थान का होता प्रारंभ॥ (13)
 इससे अनेक शिक्षाएँ मिलती, जो सेवन करते सप्त व्यसन आदि।
 वे सामान्य भद्र नैतिक भी न होते, कहाँ से होंगे वे धार्मिक आदि॥ (14)
 आत्म विशुद्धि बिन उक्त नैतिक गुणों से भी, कोई न होता है सच्चा धार्मिक।
 धार्मिक होने हेतु आत्म विशुद्धि युक्त, सेवनीय उक्त नैतिक कर्त्तव्य॥ (15)
 नैतिक से भी श्रेष्ठ है आध्यात्मिक धर्म, जो नैतिक आत्म विशुद्धि संयुक्त।
 नैतिक विहीन न होता है धर्म, नैतिकता न होती संपूर्ण धर्म॥ (16)
 नैतिक गुण बिन कोई न होता सभ्य/(सही) मानव, आत्म विशुद्धि बिना न होता धार्मिक।
 दोनों से युक्त हो सभी मानव इसी हेतु, 'कनक' ने बनाया (यह) (पावन) शोध काव्य॥ (17)

ग.पु.काँ., सागवाड़ा, दिनांक 29.12.2015, रात्रि 8.13

संदर्भ-

अनेकान्त की दृष्टि से विचार, विहार, आहार

सुप्रसिद्ध प्रचलित नीति है कि 'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।' यह नीति अनेकान्त की दृष्टि से अंशतः सत्य होते हुए भी पूर्ण सत्य नहीं है। इस आंशिक सत्य से भी कुछ अधिक सत्य है 'जैसा होवे मन, वैसा खावे अन्न।' अर्थात् जैसा हमारा विचार होता है, वैसा ही हमारा आहार होता है। विश्व साहित्यों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि जितने महान् महापुरुष हैं वे सब सात्त्विक आहारी ही थे। जैसे-जैन धर्म के संपूर्ण तीर्थंकर, चक्रवर्ती, कामदेव, नारायण, प्रतिनारायण, रूद्र, नारद आदि। शुद्ध विचार सहित व्यक्ति कभी अशुद्ध आहार कर ही नहीं सकता, जैसे जहाँ पर प्रकाश होता है, वहाँ अंधकार प्रवेश कर ही नहीं सकता। भोगभूमियों के मनुष्य तो शुद्ध सात्त्विक आहारी होते हैं और वहाँ के पशु भी यथा सिंह, व्याघ्र आदि भी सात्त्विक आहारी होते हैं। जैन धर्म के विश्वकोष स्वरूप तिल्लोय पण्णत्ति में इसका सविस्तृत वर्णन निम्न प्रकार से है-

पाणं महुर-सुसादं, छ-रसेहि जुदं पसत्थ-मइसीदं।

बत्तीस-भेद-जुत्तं, पाण्णा देति तुट्टि-पुट्टियरं।। (347)

(तिलोपपण्णती ॥, पृष्ठ 108)

(इनमें से) पानांग जाति के कल्पवृक्ष (भोगभूमिजों को) मधुर, सुस्वाद, छह रसों से युक्त, प्रशस्त, अतिशीतल तथा तुष्टि और पुष्टिकारक बत्तीस प्रकार के पेय (द्रव्य) दिया करते हैं।

सोलस-विहमाहारं, सोलसभेयाणि वेंजणाणिं पि।

चोदसविह-सूपाइं खज्जाणिं विगुणचउवण्णं।। (351)

सायाणं च पयारे, तेसट्टी-संजुदाणि ति-सयाणि।

रस-भेदा तेसट्टी, देति फुडं भोयणंग-दुमा।। (352)

भोजनांग जाति के कल्पवृक्ष सोलह प्रकार का आहार, सोलह प्रकार के व्यंजन, चौदह प्रकार के सूप (दाल आदि) चउवने के दुगुने (108) प्रकार के खाद्य पदार्थ, तीन सौ तिरैसठ प्रकार के खाद्य पदार्थ एवं तिरैसठ प्रकार के रस भेद पृथक्-पृथक् दिया करते हैं।

तिरिया भोगखिदीए, जुगला-जुगला हवंति वर-वण्णा।

सरला मंदकसाया, पाणाविह-जादि-संजुता।। (392)

(तिलोपपण्णती, पृ. 118)

भोगभूमि में उत्तम वर्ण-विशिष्ट, सरल, मंद-कषायी और नाना प्रकार की जातियों वाले तिर्यञ्च जीव युगल-युगल रूप से होते हैं।

गो, केसरि, करि, मयरा, सूवर, सारंग, रोज्झ, महिस, वया।

वाणर, गवय, तरच्छा, वग्घ, सिगालच्छ, भल्ला य।। (393)

कुक्कुड-कोइल-कीरा, पारावद-रायहंस-कारंडा।

बक-कोक-कोंच-किंजक-पहुदीओ होंति अण्णे वि।। (394)

(भोगभूमि में) गाय, सिंह, हाथी, मगर, सूकर, सारंग, रोझ (ऋश्य), भैंस, वृक (भेड़िया), बंदर, गवय, तेंदुआ, व्याघ्र, श्रृगाल, रीछ, भालू, मुर्गा, कोयल, तोता, कबूतर, राजहंस, कारंड, बगुला, कोक (चकवा), क्रौंच एवं किञ्जक तथा और भी तिर्यच होते हैं।

जह मणुवाणं भोगा, तह तिरियाणं हवंति एदाणं।

णिय-णिय-जोग्गत्तेणं, फल-कंद-तणंकुरादीणि।। (395)

वहाँ जिस प्रकार मनुष्यों के भोग होते हैं, उसी प्रकार इन तिर्यचों के भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार फल, कंद, तृण और अंकुरादि के भोग होते हैं।

वग्घादी-भूमिचरा, वायस-पहुदी य खेयरा तिरिया।

मंसाहारेण विणा, भुजंते सुरतरुण महुर-फलं।। (396)

वहाँ व्याघ्रादि भूमिचर और काक आदि नभचर, तिर्यच, माँसाहार के बिना कल्पवृक्षों के मधुर फल भोगते हैं।

हरिणादि-तणचरा तह, भोगमहीए तणाणि दिव्वाणि।

भुजंति जुगल-जुगला, उदय-दिणेस-प्पहा सव्वे।। (397)

भोगभूमि में उदयकालीन सूर्य के सदृश प्रभा वाले समस्त हरिणादिक तृण-जीवी पशुओं के युगल दिव्य तृणों का भोजन करते हैं।

उपरोक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि भोगभूमि में उत्पन्न होने वाले स्त्री-पुरुष कल्पवृक्ष से प्राप्त सुमधुर, सुगंध युक्त भोजन एवं पानी का सेवन करते हैं। उत्तम भोगभूमि में उत्पन्न होने वाले मनुष्य तीन दिन के बाद चौथे दिन भोजन करते हैं, मध्यम भोगभूमि में उत्पन्न होने वाले जीव दो दिन के बाद भोजन करते हैं और जघन्य भोगभूमि में उत्पन्न होने वाले जीव एक दिन बाद अर्थात् दूसरे दिन में भोजन करते हैं। इनको भोजन का प्रमाण भी आँवला, बेर आदि के बराबर है। भोगभूमि में जो उत्पन्न होते हैं वे पूर्वजन्म के संस्कार को लेकर जन्म लेते हैं जिसके कारण उनके भाव भी भद्र, सरल एवं सात्विक रहते हैं। इसके कारण तो उनका भोजन भी सात्विक होता है, इतना ही नहीं वहाँ जन्म लेने वाले पशु भी पूर्व के अच्छे संस्कार के कारण भद्र, सरल परिणाम के होते हैं जिसके कारण उनका भोजन भी सात्विक होता है। कालक्रम से युग परिवर्तन होता है। तब यहाँ जन्म लेने वाले कुछ पूर्व कुसंस्कार को लेकर जन्म लेते हैं जिसके कारण उनके परिणाम भी दूषित होते जाते, वे पूर्व संस्कार से प्रेरित होकर एवं उस समय के वातावरण से प्रभावित होकर अशुभ भाव से भावित हो जाते हैं, जिसके कारण वे क्रूर होकर माँस का भक्षण करने लगते हैं और मनुष्यों को भी कष्ट देना प्रारंभ करने लगते हैं। तिल्लोयपण्णात्ति में कहा है कि-

वग्धादि-तिरिय-जीवा, काल-वसा क्रूर- भावमावण्णा।
तब्भयदो भोग-णरा, सव्वे अच्चउला जादा।। (448)

(तिलोयपण्णति, पृ. 131)

उस समय कालवश व्याघ्रादिक तिर्यच जीवों के क्रूर-परिणाम होने से सर्व भोगभूमिज मनुष्य उनके भय से अत्यंत व्याकुल हो गये थे।

खेमंकर-णाम मणू भीदाणं देदि दिव्व-उवदेसं।
कालस्स विकारादो, एदे क्रूरत्तणं पत्ता।। (449)

ता एण्हं विस्सासं, पापाणं मा करेज्ज कइया वि।
तासेज्ज कलुस-वयणा, इय भणिदे णिब्भया जादा।। (450)

तब खेमंकर नामक मनु उन भयभीत प्राणियों को दिव्य उपदेश देते हैं कि काल में विकार से ये तिर्यच जीव क्रूरता को प्राप्त हुए हैं, इसलिये अब इन पापियों का विश्वास कदापि मत करो, ये विकृत मुख प्राणी तुम्हें त्रास दे सकते हैं। उनके ऐसा कहने पर वे भोगभूमिज निर्भयता को प्राप्त हुए हैं।

सम्यक्त्व (परम सत्य श्रद्धान) का स्वरूप

(सामाजिक मान्यता आदि से ही नहीं होती है सही श्रद्धा-प्रज्ञा)

(चाल : छोटी-छोटी गैया....)

समाज-व्यक्ति या राष्ट्र मान्यता से, सम्यक्त्व/(सत्य) न होता लोकमान्यता से।
संविधान कानून या रूढ़ि मान्यता से, न होता धर्म/(आध्यात्म) ढोंग मात्र से।। (1)

सम्यक्त्व होता है आत्मा का स्वभाव, आत्मा होता है सच्चिदानंद स्वभाव।
परम सत्यमय स्व-शुद्धात्मा श्रद्धान, होता है आध्यात्ममय धर्म प्रधान।। (2)

परम सत्य को जानते केवल सर्वज्ञ, परम सत्य को न जाने छद्मस्थ ज्ञान।
सर्वज्ञ कथन ही होता यथार्थ सत्य, अन्य का कथन न होता यथार्थ सत्य।। (3)

सर्वज्ञ कथित शुद्धात्मा स्वरूप का, श्रद्धान करना निश्चय से सम्यक्त्व।
इस से होता यथार्थ से सुज्ञान, अन्य सभी न होते यथार्थ ज्ञान।। (4)

सच्चिदानंदमय स्वयं को मानना, होता है सत्यार्थमय श्रद्धान।
ऐसी श्रद्धा युक्त होती जो प्रज्ञा, वह होती है सत्यार्थ ज्ञान।। (5)

श्रद्धा-प्रज्ञा से युक्त आचरण ही, होता है यथार्थ से आचरण।

समता शांति व पावनता युक्त, आत्म विशुद्धि/(आत्म विकास) हेतु सदाचरण॥ (6)

इससे अन्यथा सभी ही मान्यता, नहीं होती है परम सत्य-तथ्य।

वे सभी भले ही लौकिक व्यवहार, नहीं होता है उससे आत्म उद्धार॥ (7)

ग.पु.कॉ., सागवाड़ा, दिनांक 02.01.2016, प्रातः 10.00

व्यवहार व निश्चय रत्नत्रय मोक्षमार्ग

(चाल : आत्मशक्ति....., शत-शत वंदन....., सायोनारा.....)

देव-शास्त्र गुरु के श्रद्धान से, होता है सम्यग्दर्शन।

यह है व्यवहार नय से, निश्चय से स्व-शुद्धात्म दर्शन॥ (1)

अरिहंत व सिद्ध समान, मेरा भी है शुद्ध स्वरूप।

ऐसी श्रद्धा से होता है, निश्चय से सम्यग्दर्शन॥ (2)

आगम में जो वर्णित है, षट् द्रव्य तत्त्व व पदार्थ।

उससे स्व-द्रव्यादि का श्रद्धान, होता है सम्यग्दर्शन॥ (3)

स्व-शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि, हेतु जो बने हैं श्रमण।

उनके आदर्श को स्व-आदर्श, मानना यह है सम्यग्दर्शन॥ (4)

इसी से जो होता है ज्ञान, वह होता है सम्यग्ज्ञान।

सम्यग्दर्शन ज्ञान सहित, होता है सम्यक् आचरण॥ (5)

अष्टमद रहित पंचाणु व्रतादि से, युक्त होता है प्राथमिक श्रावक।

षट् कर्तव्य सह-व्यसन रहित, संसार शरीर से विरक्त॥ (6)

क्षुल्लक ऐल्लक होते हैं उत्कृष्ट, श्रावक वे होते गृहत्यागी।

पंच महाव्रतादि अट्टाइस मूलगुण, धारी होते श्रमण वे गृहत्यागी॥ (7)

ध्यान-अध्ययन व समता-शांति से, करते हैं वे आत्मा विशुद्धि।

निस्पृह निराडम्बर विरागता से, करते हैं वे आत्मा की सिद्धि॥ (8)

घाति नाश से बनते अरिहंत, अघाति भी नाश से बनते सिद्ध।

स्वयं की उपलब्धि स्वयं में ही करके, बनते हैं स्वयं शुद्ध-बुद्ध॥ (9)

निश्चय-व्यवहारमय होता है, रत्नत्रय साधन-साध्य रूप से।

दोनों के यथायोग्य समन्वय से, मोक्ष मिले 'कनक' स्व-शुद्धात्मा से॥ (10)

निश्चय व्यवहार दोनों सापेक्ष, दोनों ही परस्पर उपकारी।

व्यवहार होता है साधन, निश्चय साधन कहे जिनवाणी॥ (11)

व्यवहार बिना निश्चय न मिले, बिना निश्चय न व्यवहार।

निरपेक्ष दोनों होते हैं मिथ्या, सापेक्ष दोनों होते महोपकार॥ (12)

ग.पु.कॉ., सागवाड़ा, दिनांक 01.01.2016, मध्याह्न 12.52 व 3.00

संपूर्ण धर्म व अधर्म का स्वरूप

(संपूर्ण धर्म हेतु चाहिए नवकोटि से धर्म पालन न कि केवल शरीर व भौतिक बाह्य धार्मिक क्रियाएँ)

(चाल : छोटी-छोटी गैया....., तुम दिल की.....)

केवल शरीर व भौतिक क्रिया से ही, नहीं होता है संपूर्ण धर्म।

नवकोटि से धर्म होता है, तथाहि नवकोटि से होता अधर्म॥

उत्तम भाव-व्यवहार करो नवकोटि से, तब पूर्ण होगा धार्मिक काम।

निकृष्ट भाव-व्यवहार त्यागो, नवकोटि से न होगा (पूर्ण) अधर्म काम॥ (1)

सनम्र सत्यग्राही बनो भावना करो, सरल-सहज व पावन।

स्व-पर-विश्व हितकारी करो भावना, यथायोग्य करो नवकोटि से पालन॥

क्रोध मान माया लोभ कामादि के, त्याग से होता है पावन भाव।

ईर्ष्या तृष्णा घृणा मोह निन्दा आदि, त्याग से होता है पावन भाव॥ (2)

पावन भावना सहित सत्य, समता-शांति को करो स्वीकार।

हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह, का भी त्याग करो शक्ति अनुसार॥

मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ का, भाव व व्यवहार भी विधेय।

मन वचन काय व कृत कारित, अनुमत से भाव-व्यवहार विधेय॥ (3)

इसी से युक्त हो देव-शास्त्र-गुरु की, सेवा-पूजा आदि भी करणीय।

दान वैयावृत्ति तीर्थयात्रा व, स्वाध्याय-ध्यान भी करणीय॥

इन सब कार्यों से भी उपरोक्त, भाव-व्यवहार को वर्द्धनीय।

धार्मिक क्रियाएँ तो उत्तम भाव-व्यवहार के लिए ही करणीय।। (4)

उत्तम भाव-व्यवहार तो बीज सम, जिससे धर्म रूपी वृक्ष बनता है।

धार्मिक क्रियाएँ तो मृदा जलादि सम, जिससे धर्म वृक्ष पोषित होता है।।

साध्य-साधन रूपी निमित्त-उपादान से, ये सभी घटित होते हैं।

उत्तम भाव-व्यवहार साध्य है तो, धार्मिक क्रियाएँ साधन रूपी होती हैं।। (5)

परस्पर सहयोगी होना दोनों को विधेय, भाव विशुद्धि हेतु होना ही श्रेय।

विशुद्धभाव से ही मिलता है मोक्ष, 'कनकनन्दी' हेतु मोक्ष ही श्रेय।।

आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र युक्त, उत्तम क्षमादि होते धर्म (श्रेष्ठ) लक्षण।

इससे ही मिलता है परम मोक्ष, इससे विपरीत सभी अधर्म लक्षण।। (6)

उपरोक्त सभी भाव-व्यवहार व, धार्मिक क्रियाओं से विपरीत।

होते सभी भाव-व्यवहार, धर्म से विपरीत व पापबंध कृत।। (7)

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 03.01.2015, रात्रि 8.29

(नव वर्ष में परम विकास का संकल्प/(लक्ष्य))

शुद्ध-बुद्ध आनंद बनना ही जीव का परम विकास

-आ. कनकनन्दी

(चाल : दुनिया में रहना है तो.....)

लक्ष्य धरो भाई! लक्ष्य करो! महान् पावन लक्ष्य (को) करो!

आत्म विकास का लक्ष्य धरो! शुद्ध-बुद्ध-आनंद का लक्ष्य धरो!

'शुद्ध-बुद्ध-आनंद' ही तेरा स्वरूप 'सच्चिदानंद' है तेरा स्वरूप।

अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्य, अजर अमर व सत्य स्वरूप।।

तन-मन-इन्द्रिय न तेरा स्वरूप, जन्म-जरा-मरण न तेरा स्वरूप।

राग द्वेष मोहादि न तेरा स्वरूप, सत्ता संपत्ति प्रसिद्धि न तेरा स्वरूप।।

ये सभी तेरे हैं विकार रूप, कर्म जनित है संसारी रूप।

कर्म परतंत्रता का यह स्वरूप, सांसारिक दुःखों का जनक रूप।।

इसीसे न होगा तेरा पूर्ण विकास, इसी रूप मानना मोह स्वरूप।
इसी में राग द्वेष मोह बंधन रूप, इसी से परे होना तेरा विकास।।

शांति-कुंथु-अरहनाथ तीनों ही, तीन-तीन पदवी धारी भी हुए।
आत्म विकास हेतु त्यागे चक्री पद, शुद्ध-बुद्ध होकर पाये परम पद।।

चक्रवर्ती (भी) यदि भोग/(पद) सहित मरे, नरक गति के दुःखों को भरे।
मुमुक्षु मानव (यदि) आत्म विकास करे, शुद्ध-बुद्ध होकर मोक्ष को वरे।।

शरीर पोषण सत्ता संपत्ति अर्जन, भोगोपभोग व फैशन-व्यसन।
ये सभी नीच पशु-पक्षी भी करते, अज्ञानी मोही इसे (ही) सर्वस्व माने।।

मोक्ष पुरुषार्थ को ही प्रमुख करो! धर्म पुरुषार्थ से इसे वरण करो।
अर्थ व काम को हेय तू मानो! कमल समान निर्लिप्त बनो।।

शक्ति अनुसार पुरुषार्थ करो! भावना से लक्ष्य की ओर बढ़ो!
लक्ष्य प्राप्ति तक बढ़ते ही चलो! 'कनक' तू स्व-आत्म विकास करो!

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 30.12.2016 (ईसाई नव वर्ष के पूर्व)

आनंद जीव का प्रमुख गुण व उससे प्राप्त अनंत लाभ

-आ. कनकनन्दी

(चाल : बड़ा नटखट है रे....., आत्मशक्ति से.....)

आनंद ही जीव का महान् गुणऽऽऽ सच्चिदानंद इसका प्रमाणऽऽऽ होऽऽऽ
हर जीव अतः चाहता सुखऽऽऽ दुःख से हर जीव होता विमुखऽऽऽ होऽऽऽ (ध्रुव)
ज्ञानानंद भी तो इसे ही कहतेऽऽ सहजानंद भी इसे ही कहतेऽऽऽ
परमानंद है जीव का शुद्ध स्वभावऽऽ विषयानंद है जीव का अशुद्ध भावऽऽऽ
आनंद ही...(1)

आनंद से जीव का कटता कर्मऽऽ आनंद हेतु ही जीव पालता धर्मऽऽऽ
इसी से विपरीत है दुःख-संकलेशऽऽ जिससे होता है आस्रव (व) संश्लेष (बंध)ऽऽऽ
आनंद ही...(2)

समता-शांति व आत्म विशुद्धिऽऽ ईर्ष्या-द्वेष-घृणा से रहित बुद्धिऽऽऽ
दान-दया-सेवा व परोपकार सेऽऽ आनंद बढ़ता है पावन भाव सेऽऽऽ
आनंद ही...(3)

परनिंदा-अपमान व परपीड़ा सेऽऽ दुश्चिन्ता तनाव व उदासीनता सेऽऽऽ
फैशन-व्यसन-दंभ प्रपंच सेऽऽ दूर होने से सुख सुहृदयता (शांति) सेऽऽऽ
आनंद ही...(4)

आनंद से पाप भाव काम नहीं होतेऽऽ विवाद-विसंवाद व कलह नहीं होतेऽऽऽ
क्रूरता-शत्रुता-हत्या भी नहीं होतीऽऽ चिन्ता-उदासीनता आदि नहीं होतीऽऽऽ
आनंद ही...(5)

पाप निरोध होता तथा पुण्य बढ़ताऽऽ डोपामाइन रूपी हैप्पी हारमोन स्राव होताऽऽऽ
उत्साह-साहस-बल में भी होती संवृद्धिऽऽ उत्तम विचार काम में भी होती संवृद्धिऽऽऽ
आनंद ही...(6)

ज्ञान व ध्यान में भी होता विकासऽऽ (पाँचों ही) इन्द्रियों की क्षमता में होता विकासऽऽऽ
रोग-प्रतिरोधक क्षमता में होता विकासऽऽ नये रोग न होते पुराने विनाशऽऽऽ
आनंद ही...(7)

(बाह्य) अभाव व दुःखों का न होता अनुभवऽऽ संतोष शांति (आह्लाद) का होता है
अनुभवऽऽऽ
अन्य भी होते आनंदित भाव संक्रमणऽऽ ओरा या आभा मण्डल का है परिणामऽऽऽ
आनंद ही...(8)

परम आनंद से होता कर्मों का संक्षयऽऽ जिससे जीव को मिलता परम मोक्षऽऽऽ
सच्चिदानंदमय जीव का शुद्ध स्वरूपऽऽ यही 'कनक' का शुद्ध अध्यात्म रूपऽऽऽ
आनंद ही...(9)

हिंसानंद मृषानंद चौर्यानंद सेऽऽ पाप, दुःख होता परिग्रहानंद सेऽऽऽ
फैशन-व्यसन-आडम्बर-दंभ सेऽऽ जो होता आनंद वह सुखाभास (है)ऽऽऽ
आनंद ही...(10)

धर्म में //(से) भी यदि होता संक्लेशऽऽ ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा व राग-द्वेष/(वाद-विवाद)ऽऽऽ
होता है दुःख (अतः) होता पापास्रवऽऽ धर्म का स्वरूप क्योंकि सुखरूपऽऽऽ
आनंद ही...(11)

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 25.12.2015, रात्रि 8.00
(यह कविता "मन की शक्ति" मैक्सवेल माल्ट्ज से भी प्रेरित है।)

गद्य-विभाग

बोधप्राभृतम्

बहुसन्ध अथजाणे संजमसम्मत्तसुद्धतवयरणे।

वंदिता आयरिए कसायमलवज्जिदे सुद्धे।।1।।

सयलजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।

वुच्छामि समासेण य-छक्कायहियंकरं सुणसु।।2।।

गाथार्थ-मैं अनेक शास्त्र तथा उनके अर्थ के ज्ञाता, संयम सम्यक्त्व और शुद्ध तपश्चरण के धारक, कषाय रूपी मल से रहित तथा निर्मल आचार्यों को नमस्कार करके समस्त मनुष्यों को संबोधने के लिए जिनमार्ग में जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे अनुसार संक्षेप से छह काय के जीवों का हित करने वाला “बोधप्राभृत” नामक ग्रंथ कहूँगा, हे भव्य जीवों! उसे सुनो।

विशेषातार्थ-बोधप्राभृत नामक ग्रंथ के मंगलाचरण और प्रतिज्ञा-वाक्य को कहते हुए कुंदकुंदाचार्य कहते हैं कि मैं उन आचार्यों को नमस्कार करके जो कि अनेक शास्त्र तथा उनके अर्थ के ज्ञाता हैं, सम्यक्चारित्र, सम्यग्दर्शन और निरतिचार बारह प्रकार के तप के धारक हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ नामक चार कषाय रूपी मल से रहित हैं और छत्तीस गुणों के पालक होने से निर्मल हैं-निष्पाप हैं; समस्त भव्य जीवों को संबोधने के लिए बोधप्राभृत नामक ग्रंथ को संक्षेप से कहूँगा। यह ग्रंथ पृथ्वी, जल, अग्नि वा और वनस्पति इन पाँच स्थावरों तथा एक त्रस इस प्रकार छह काय के जीवों के लिए हितकारी है तथा जिनमार्ग-जिनशास्त्र में केवलज्ञान से युक्त जिनेन्द्र भगवान् ने जैसा कहा है उसी के अनुसार कहा गया है। आचार्यों के छत्तीस गुण इस प्रकार हैं-

अष्टावाचारवत्वाद्यास्तपांसि द्वादश स्थितेः।

कल्या दशावश्यकानि षट् षट्त्रिंशद्गुणाः गुराः।।76।।

आचारवत्वादि आठ, स्थितिकल्प दश, तप बारह और आवश्यक छह, इस प्रकार कुल मिलाकर आचार्य के छत्तीस गुण माने गये हैं। संस्कृत टीकाकार ने ‘आचारवान्’ आदि श्लोकों में उन्हीं का नामोल्लेख किया है-

आचारवान्-आचार्य को आचारवान्, श्रुताधार, प्रायश्चित्तद, आसवादिद, आयापाप-कथी, दोषाभाषक, अस्त्रावक और संतोषकारी होना चाहिए अर्थात् आचार्य में आचारवत्त्व, श्रुताधारत्व, प्रायश्चित्त-दातृत्व, आसनादि-दातृत्व, आयापायकथित्व, दोषाभाषकत्व, अस्त्रावकत्व और संतोषकारित्व ये आठ गुण होते हैं। इनका खुलासा इस प्रकार है-

1. **आचारवत्त्व**-दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों का स्वयं पालन करना तथा दूसरों से कराना आचारवत्त्व गुण है।

2. **श्रुताधारवत्त्व**-जिसकी श्रुतज्ञान रूपी संपत्ति की कोई तुलना न कर सके उसे श्रुतधारी अथवा श्रुतज्ञानी कहते हैं। नौ पूर्व, दश पूर्व या चौदह पूर्व तक के श्रुत ज्ञान को अथवा कल्प व्यवहार के धारण करने को आधारवत्त्व कहते हैं।

3. **प्रायश्चित्तद**-प्रायश्चित्त विषयक ज्ञान के रखने वाले को प्रायश्चित्तद कहते हैं जिन्होंने अनेक बार प्रायश्चित्त को देते हुए देखा है और जिन्होंने स्वयं भी अनेक बार उसका प्रयोग किया हो, स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण किया हो अथवा दूसरे को दिलवाया हो वह प्रायश्चित्तद अर्थात् प्रायश्चित्त को देने वाला है। दूसरे ग्रंथों में इस गुण को व्यवहारपटुता कहा है।

4. **आसनादिद**-समाधि-मरण करने में प्रवृत्त हुए साधक साधुओं को आसन आदि देकर जो उनकी परिचर्या करते हैं वे आसनादिद-आसनादि को देने वाले कहलाते हैं। इन्हीं परिचारी अथवा प्रकारी कहते हैं।

5. **आयापायकथी**-आलोचना करने के लिए उद्यत हुए क्षपक-समाधि-मरण करने वाले साधु के गुण और दोषों के प्रकाशित करने वाले को आयापायकथी कहते हैं। अर्थात् जो क्षपक किसी प्रकार का अतिचार आदि न लगाकर सरल भावों से अपने दोषों की आलोचना करता है उसके गुण को प्रशंसा करते हैं और आलोचना में दोष लगाने वाले के दोष बतलाते हैं, वे आय-लाभ और अपाय-हानि का कथन करने वाले हैं।

6. **दोषाभाषक**-दोष छिपाने वाले शिष्य से दोष कहलवाने की सामर्थ्य रखने वाले आचार्य को दोषाभाषक कहते हैं। इसका दूसरा नाम उत्पीड़क है। जिस प्रकार चतुर चिकित्सक व्रण के भीतर छिपे हुए विकार को पीड़ित कर बाहर निकाल देता है उसी प्रकार आचार्य भी शिष्य के छिपाये हुए दोष को अपनी कुशलता से प्रगट करा

लेता है।

7. अस्त्रावक—जो किसी के गोप्य दोष को कभी प्रगट नहीं करता वह अस्त्रावक है। जिस प्रकार संतप्त तवे पर पड़ी पानी की बूँद वहीं शुष्क हो जाती है इसी प्रकार शिष्य द्वारा कहे हुए दोष जिसमें शुष्क हो जाते हैं अर्थात् जो किसी दूसरे को नहीं बतलाते हैं, वे अस्त्रावक है।

8. संतोषकारी—जो साधुओं को संतोष उत्पन्न करने वाला हो अर्थात् क्षुधा, तृषा आदि की वेदना के समय हितकर उपदेश देकर साधुओं को संतुष्ट करता हो उसे संतोषकारी कहा है। इसका दूसरा नाम सुखावह भी है।

इस प्रकार निर्यापक अर्थात् संल्लेखना कराने वाले आचार्य में ये आठ गुण होते हैं। अब आगे स्थिति-कल्प रूप दश गुणों को कहते हैं—

9. दिग्म्बर—आचेलक्य अथवा नग्न मुद्रा को धारण करने वाले हो उन्हें दिग्म्बर कहते हैं। यह निष्परिग्रहता और निर्विकारता की परिचायक मुद्रा है।

10. अनुद्दिष्ट भोजी—मुनियों के उद्देश्य से बनाये हुए भोजन पान को जो ग्रहण नहीं करता है वह अनुद्दिष्ट-भोजी है।

11. अशय्याशनी—वसतिका बनवाने वाला और उसका संस्कार करने वाला तथा वहाँ पर व्यवस्था आदि करने वाला ये तीनों ही शय्या धर शब्द से कहे जाते हैं। जो शय्या अर्थात् शय्याधार के अशन-भोजन को ग्रहण नहीं करते उन्हें अशय्याशनी कहते हैं।

12. अराजभुक्—जो राजाओं के घर में भोजन ग्रहण न करता हो अथवा राजपिण्ड का त्यागी हो उसे अराजभुक् कहते हैं।

13. क्रियायुक्त—जो कृति कर्म से युक्त हो उसे क्रिया-युक्त कहते हैं। छह आवश्यकों का पालन करना अथवा गुरुजनों का विनय कर्म करना कृति-कर्म कहलाता है।

14. व्रतवान्—जो व्रत धारण करने की योग्यता से सहित हो उसे व्रतवान् कहते हैं। जो आचेलक्य-नग्न-मुद्रा को धारण करने वाला हो, औद्देशिक आदि दोषों को दूर करने वाला हो, गुरुभक्त हो तथा अत्यन्त नग्न हो वही साधु व्रत धारण के योग्य माना गया है।

15. ज्येष्ठ सद्गुण—जिनमें उत्कृष्ट सद्गुणों का निवास हो उन्हें ज्येष्ठ-सद्गुण

कहते हैं। जो जाति और कुल की अपेक्षा महान् हो, जो वैभव, प्रताप और कीर्ति की अपेक्षा गृहस्थों में भी महान् रहे हो, जो ज्ञान और चर्या आदि में उपाध्याय तथा आर्यिका आदि से भी महान् हैं एवं क्रिया-कर्म के अनुष्ठान द्वारा भी जिनमें श्रेष्ठता पाई जाती है वे ज्येष्ठता गुण से युक्त हैं।

16. प्रतिक्रमी-जो विधिपूर्वक देवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण करते-कराते हो उन्हें प्रतिक्रमी कहते हैं।

17. षणमासयोगी-जो वसंत आदि छह ऋतुओं में एक-एक मास तक एक स्थान पर योग धारण करते हैं, अन्य समय विहार करते हैं वे षणमास-योगी कहलाते हैं। इसका दूसरा नाम मासिक-वासिता भी है। जो वर्ष में दो बार सिद्धक्षेत्र की यात्रा करने वाला हो।

18. तद्द्विनिषधक-इसका दूसरा नाम अन्यत्र पाद्य दिया है जिसका अर्थ वर्षा ऋतु के चार मास में ए स्थान पर चातुर्मास योग धारण करना होता है।

ग्यारह अधिकार के नाम

आयदणं चेदिहरं जिणपडिमा दंसणं च जिणबिंबं।

भणियं सुवीघरायं जिणमुद्दा णाणमदत्थं॥३॥

अरहंतेण सुदिट्ठं जं देवं तित्थमिह य अरहंतं।

पावज्ज गुणविसुद्धा इय णायव्वा जहाकमसो॥४॥

19-30. द्विषट्पपा-अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्याशन और कायक्लेश ये छह बाह्य तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अंतरंग इस प्रकार बारह तप धारण करने वाला हो।

31-36. षडावश्यक-समता, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकों का पालन करने वाला हो।

गाथार्थ-1.आयतन, 2. चैत्यगृह, 3. जिन प्रतिमा, 4. दर्शन, 5. अत्यंत वीतराग जिनबिम्ब, 6. जिनमुद्रा, 7. आत्म संबंधी ज्ञान, 8. अरहंत भगवान् के द्वारा प्रतिपादित देव, 9. तीर्थ, 10. अरहंत और 11. गुणों से विशुद्ध प्रव्रज्या ये ग्यारह अधिकार क्रम से इस बोधप्राप्त में जानना चाहिए।

विशेषार्थ-पहला आयतन, दूसरा चैत्यगृह, तीसरा जिनप्रतिमा, चौथा दर्शन, पाँचवाँ आगम में प्रतिपादित अत्यंत वीतराग जिनबिम्ब, छठवाँ जिनमुद्रा, सातवाँ

आत्मस्थ ज्ञान, आठवाँ अरहंत-वीतराग सर्वज्ञ देव के द्वारा अच्छी तरह प्रतिपादित देव, नौवाँ तीर्थ, दशवाँ अर्हत्स्वरूप का निरूपण करने वाला अरहंत और ग्यारहवाँ गुणों से उज्ज्वल प्रब्रज्या इस प्रकार इस बोध प्राभृत में ग्यारह अधिकार जानना चाहिए।

(1) आयतन

मणवयणकायदव्वा आसत्ता जस्स इंदिआ विसया।

आयदणं जिणमग्गे णिद्धिट्ठं संजयं रूवं॥५॥

मनोवचनकायद्रव्याणि आसत्ता यस्य ऐन्द्रिया विषयाः।

आयतनं जिनमार्गैर्निर्दिष्टं सांयतं रूपम्॥५॥

मय राय दोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।

पंच महव्यधारी आयदणं महरिसी भणियं॥६॥

मदो रागो द्वेषो मोहः क्रोधो लोभश्च यस्यायत्ताः।

पञ्चमहाब्रतधरा आयतनं महर्षयो भणिताः॥६॥

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।

अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः॥१॥

गाथार्थ—मन वचन काय रूप द्रव्य तथा इन्द्रियों के विषय जिससे संबंध को प्राप्त हैं अथवा जिसके अधीन हैं, ऐसे संयमी मुनि का शरीर जिनागम में आयतन कहा गया है।

विशेषार्थ—हृदय के मध्य में आठ पांखुरी के कमल के आकार वस्तु स्वरूप के विचार में सहायक जो मानस द्रव्य है वह मन कहलाता है। हृदय आदि आठ स्थानों के आश्रित जो वचन है अथवा वचन-शक्ति से युक्त जो पुद्गल है वे वचन द्रव्य कहलाते हैं, आठ अंग और अनेक उपांगों से युक्त मुनि का जो शरीर है वह काय द्रव्य है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँच इन्द्रियाँ हैं इनके स्पर्श, रस, गंध रूप और शब्द ये पाँच विषय हैं। ये विषय यथासंभव शक्ति-रूप तथा व्यक्ति रूप होते हैं। इस प्रकार मन वचन काय रूप द्रव्य तथा स्पर्श आदि इन्द्रिय संबंधी जिनके अपने आपके संबंध को प्राप्त हैं अर्थात् पर-पदार्थ से हटकर आत्मा से संबंध रखते हैं अथवा 'आयत्ता' पाठ की अपेक्षा ये सब जिनके स्वाधीन हैं, ऐसे संयत अर्थात् संयमी मुनि का सचेतन शरीर जिनागम में आयतन कहा गया है

गाथार्थ-मद राग द्वेष मोह क्रोध और लोभ जिसके अधीन हैं तथा जो पञ्च महाव्रतों को धारण करने वाले हैं, ऐसे महर्षि आयतन कहे गये हैं।

विशेषार्थ-मद आठ प्रकार का होता है जैसा कि श्री समंतभद्र महाकवि ने कहा है-

ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठ का आश्रय कर अहंकार करने को निर्मद ऋषि मद कहते हैं। राग प्रीति को कहते हैं। द्वेष अप्रीति स्वभाव को कहते हैं। स्त्री पुत्र तथा मित्र आदि के स्नेह को मोह कहते हैं। रोष रूप स्वभाव क्रोध कहते हैं, मूर्खा रूप परिणाम अर्थात् परिग्रह को ग्रहण करने का जो स्वभाव है उसे लोभ कहते हैं। चकार से माया का ग्रहण होता है, दूसरे को ठगने का जो स्वभाव है, उसे माया कहते हैं। ये सब मद आदि विकार जिस महर्षि के-आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन भेद रूप मुनि के अधीन है-ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों अथवा रात्रि भोजन त्याग के साथ छह महाव्रतों को धारण करने वाले हैं, ऐसे महर्षि आयतन कहे गये हैं। ये महर्षि ही संमुख-गमन करने के योग्य हैं, तथा दर्शन, स्पर्शन, और वंदना के योग्य हैं।

सिद्धायतन

सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धज्ञाणस्स णाणजुत्तस्स।

सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थं॥७१॥

सिद्ध यस्य सदर्थं विशुद्धध्यानस्य ज्ञानयुक्तस्य।

सिद्धायतनं सिद्धं मुनिवरवृषभस्य ज्ञानार्थम्॥७१॥

पञ्चेन्द्रियाणि-स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियाँ, शब्द आदि पाँच विषय, मन तथा धर्मायतन-शरीर से बारह आयतन कहे जाते हैं।

गाथार्थ-विशुद्ध ध्यान से सहित एवं केवलज्ञान से युक्त जिस श्रेष्ठ मुनि के निजात्मस्वरूप सिद्ध हुआ है, अथवा जिन्होंने छह द्रव्य, सात तत्त्व, नव पदार्थ अच्छी तरह जान लिये हैं उन्हें सिद्धायतन कहा है।

विशेषार्थ-विशुद्ध ध्यान से सहित अर्थात् आर्त और रौद्र इन दो ध्यानों से रहित और धर्म्य तथा शुक्ल इन दो ध्यानों से सहित, एवं ज्ञान से युक्त अर्थात् समस्त पदार्थों को विषय करने वाले निर्मल ज्ञान से युक्त गणधर केवली, सामान्य केवली अथवा तीर्थंकर परम देव केवली स्वरूप जिस श्रेष्ठ मुनिवर को सदर्थ-निजात्मस्वरूप

सिद्ध हुआ है- उपलब्ध हुआ है, उसी के सिद्धायतन कहा गया है। श्रेष्ठ मुनि का यह सिद्धायतन रूप ज्ञातार्थ है अर्थात् छह द्रव्य, पञ्चास्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थों को जानने वाला है। जीव पुद्गल धर्म-अधर्म आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं। इन्हीं में से काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य पञ्चास्तिकाय हैं। जीव-अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। पुण्य और पाप इन दो को मिला देने पर सात तत्त्व ही नव पदार्थ कहलाते हैं। इस प्रकार आयतन अधिकार समाप्त हुआ।

(यहाँ तीन गाथाओं में आयतन का स्वरूप कहा है। पहली गाथा में मन, वचन, काय इन तीन योगों तथा पञ्च इन्द्रियों और उनके विषयों को स्वाधीन रखने वाले सामान्य मुनियों के रूप को आयतन कहा है। दूसरी गाथा में क्रोधादि विकारों पर पूर्ण विजय प्राप्त करने वाले, पञ्च महाव्रतों के धारक महर्षियों-ऋद्धिधारक मुनियों को आयतन कहा है और तीसरी गाथा में निर्मल ध्यान से सहित केवलज्ञान से युक्त गणधर केवली, सामान्य केवली अथवा तीर्थकर केवली को सिद्धायतन कहा है। आयतन स्थान को कहते हैं। जो सद्गुणों का स्थान है वही जिनागम में आयतन नाम से प्रसिद्ध है। परम वैराग्य से युक्त सद्गुरुओं के सिवाय नाना वेषों को धारण करने वाले पाखण्डी साधु आयतन नहीं है, वे नमस्कार के योग्य नहीं हैं।)

(2) चैत्य गृह का स्वरूप

बुद्धं जं वोहंतो अप्पाणं चेइयाइं अण्णं च।

पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं॥४॥

बुद्धं यत् बोधयन् आत्मानं चैत्यानि अन्यच्च।

पञ्चमहाव्रतशुद्धं ज्ञानमयं जानीहि चैत्यगृहम्॥४॥

गाथार्थ-जो ज्ञानयुक्त आत्मा को जानता हो, दूसरे भव्य जीवों को उसका बोध कराता हो, पाँच महाव्रतों से शुद्ध हो तथा स्वयं ज्ञानमय हो ऐसे मुनि चैत्यगृह जानो।

विशेषार्थ-कर्ममल कलंक से रहित केवल ज्ञानमय आत्मा को बुद्ध कहते हैं। इस तरह एक शुद्ध-बुद्ध स्वभाव वाले निज स्वरूप को जानने वाला आत्मा चैत्यगृह है, ऐसा हे भव्य जीव! तू जान। न केवल आत्मस्वरूप को जानने वाला चैत्यगृह है किन्तु भव्य जीवों के समूह को भी जो निज आत्मा का बोध कराता है उसे भी तू निश्चय चैत्यगृह जान। न केवल आत्मा को चैत्यगृह जान, किन्तु निश्चय चैत्यगृह को

प्राप्ति के कारणभूत व्यवहारनय से पत्थर-ईंट तथा काष्ठ आदि से रचित श्रीमान् अर्हत सर्वज्ञ वीतराग की प्रतिमा से युक्त जो जिनमंदिर हैं उन्हें भी तू चैत्यगृह जान। वह चैत्यगृह आत्मा पञ्च महाव्रतों से शुद्ध है अर्थात् अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों के द्वारा कर्ममल रूपी कलंक के समूह को समूल नष्ट कर शुद्ध हुआ है तथा ज्ञानमय है केवलज्ञान और केवलदर्शन तन्मय है। व्यवहारनय के आलंबन से जब जिन मंदिर को चैत्यगृह कहते हैं तब 'पञ्च महाव्रतशुद्ध' और 'ज्ञानमय' इन दोनों विशेषणों की संगति स्थापना निक्षेप के बल से बैठानी चाहिए। इस पक्ष में व्यवहारनय मुख्य है और निश्चयनय गौण है। लौकागच्छ के मत का अनुसरण करने वाले जो दुष्ट श्वेताम्बराभास निश्चय चैत्य का स्पर्श न करते हुए भी व्यवहार चैत्यगृह जिन मंदिर को नहीं मानते हैं वे दोनों ओर से भ्रष्ट हैं, सब जातियों के घर भोजन के लिए भिक्षा ग्रहण करते हैं, जिनधर्म की विराधना करते हैं। पूर्वाचार्यों के द्वारा उपदिष्ट जिन-पूजा आदि को न मानने वाले ये लोग न जाने किस दुर्गति को प्राप्त होंगे?

चेइय बंधं मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयंतस्स।

चेइहरं जिणमग्गे छक्काय हियंकरं भणियं।।१।।

चैत्यं बन्धं मोक्षं दुःखं सुखं च अर्पयतः।

चैत्यगृहं जिनमार्गे षट्कायहितंकरं भणितम्।।१।।

गाथार्थ-जो चैत्यगृह के प्रति दुष्ट प्रवृत्ति करता है उसे बंध तथा उसके फलस्वरूप दुःख उत्पन्न करता है और जो चैत्यगृह के प्रति उत्तम प्रवृत्ति करता है उसे वह मोक्ष तथा उसके फलस्वरूप सुख प्रदान करता है। जिनमार्ग में चैत्यगृह को षट्कायिक जीवों को हितकारी कहा गया है।

विशेषार्थ-अब व्यवहारनय से चैत्यगृह का अर्थ कहते हैं चैत्य का अर्थ उपलक्षण से चैत्यगृह है। यह चैत्यगृह बंध अर्थात् अष्ट कर्मों के बंध को करने वाला है। मोक्ष अर्थात् अष्ट कर्मों के क्षय को करने वाला है तथा उसके फलस्वरूप दुःख अर्थात् शारीरिक-मानसिक और आगन्तुक इन तीन प्रकार के दुःखों को करता है। सुख अर्थात् मोक्ष के फलस्वरूप परमानंद को उत्पन्न करता है। भाव यह है कि जो मनुष्य चैत्यगृह के प्रति दुष्ट भाव करता है उसको पापबंध होता है और जो चैत्यगृह के प्रति उत्तम भाव रखता है उसके पुण्य उत्पन्न होता है तथा उसी के आधार पर वह मोक्ष को प्राप्त होता है, ऐसी भावना करनी चाहिए। जिनमार्ग भगवान् अरहत सर्वज्ञ

वीतराग देव के मार्ग में चैत्यगृह-जिन मंदिर है ही, अत्यंत पापी कौन मिथ्यादृष्टि उसका लोप करता है? जो प्रतिमा और जिन मंदिर को नहीं मानता है वह महान् पापी है। इसलिये भगवान् गौतम ने कहा है-

यावन्ति-तीनों लोकों में जितने चैत्यालय हैं मैं सदा भक्ति-पूर्वक तीन प्रदक्षिणा देकर उन्हें नमस्कार करता हूँ।

केणय वाडी वाईया केणय वीणिय फुल्ल।

केणव जिणह चडाविया ए तिण्ण व समतुल्ल।।2।।

केणय-किसी ने वाटिका लगवाई, किसी ने फूल चुने और किसी ने जिनेन्द्र भगवान् को चढ़ाये। ये तीनों ही पुरुष एक समान हैं-एक समान ही पुण्य को प्राप्त होते हैं।

‘चैत्यं बंधं मोक्षं दुःखं च पुनः सोख्यं अल्पकं तस्य जिनमार्गे चैत्यगृहं षट्कायहितकरं भणितं कथितं।’

इसका अर्थ ऐसा जान पड़ता है कि जिस मुनि के बंध, बंधन, मोक्ष-छूटना अल्प है अत्यंत तुच्छ है, हर्ष-विषाद के कारण नहीं हैं, उस समभावी मुनि की आत्मा चैत्यगृह है यह चैत्यगृह जिनागम में छह काय के जीवों का हितकारी कहा गया है।

मेरी बुद्धि में ‘अप्पयं तस्स’ की छाया ‘अप्रयातः’ आती है और उसके आधार पर गाथा का अर्थ ऐसा जान पड़ता है-

‘बंधन और मोक्ष के प्रति विषाद और हर्ष को प्राप्त न होने वाले मुनि की आत्मा चैत्यगृह है। चैत्यगृह जिनागम में छह काय के जीवों का हितकारक कहा गया है।’

इस प्रकार चैत्यगृह नाम का दूसरा अधिकार समाप्त हुआ।

(3) जिन-प्रतिमा

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणां।

णिगगंथ वीघराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा।।10।।

स्वपराऽजङ्गमदेहा दर्शनज्ञानेन शुद्धचरणानाम्।

निर्ग्रन्थवीतरागा जिनमार्गे ईदृशी प्रतिमा।।10।।

गाथार्थ-सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के द्वारा शुद्ध-निर्दोष चारित्र को धारण करने वाले तीर्थंकर की प्रतिमा स्वशासन और पर-शासन की अपेक्षा दो प्रकार की है,

अजङ्गम रूप है-गति रहित है, निर्ग्रन्थ तथा वीतराग है। जिनमार्ग में ऐसी प्रतिमा मानी गई है।

विशेषार्थ-व्ययवहार नय से जिन प्रतिमा का निरूपण करते हैं-सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के द्वारा शुद्ध चारित्र को धारण करने वाले तीर्थ कर परमदेव की प्रतिमा 'स्वपरा' स्व और पर के भेद से दो प्रकार की है। उनमें अर्हत भगवान् के शासन से संबंध रखने वाली प्रतिमा स्व-प्रतिमा है और श्वेताम्बर आदि पर शासन से संबंध रखने वाली प्रतिमा पर-प्रतिमा है। जो प्रतिमा स्व-शासन की है वह उपादेय है-भक्ति-वन्दना आदि करने के योग्य है और जो पर-शासन से संबंध रखने वाली है वह हेय है-छोड़ने योग्य है, वन्दना करने के योग्य नहीं है। अथवा स्वपरा शब्द का यह भी अर्थ हो सकता है कि जो प्रतिमा स्व-अर्हत देव के शासन में परा उत्कृष्ट है, प्रतिष्ठा सिद्धांत के अनुसार निर्मित है, वही वन्दना करने के योग्य है, अनुत्कृष्ट प्रतिमा वन्दना करने योग्य नहीं है। कौन प्रतिमा उत्कृष्ट है और कौन अनुत्कृष्ट? इसका उत्तर यह है कि पाँच प्रकार के जैनाभासों ने जो प्रतिमा प्रतिष्ठित की है वह अञ्जलिका-लंगोटी से रहित नग्न रूप होने पर भी न वन्दनीय है और न अर्चनीय। किन्तु इसके विपरीत जैनाभासों से रहित साक्षात् आर्हत संघ के लोगों के द्वारा जो प्रतिष्ठित है, नेत्र और स्तन आदि में विकार से रहित है अर्थात् इन स्थानों में जिसमें कोई विकार नहीं किया गया है, नदीसंघ, सेनसंघ, देवसंघ और सिंहसंघ के द्वारा जो प्रतिष्ठापित है वह वन्दनीय है। जैसा कि भट्टारक इन्द्रनदी ने कहा है-

चतुः-चार संघ की संहिता से जिस जैनबिंब की प्रतिष्ठा हुई है उसे ही नमस्कार करना चाहिए अन्य संघ की प्रतिमा को नहीं क्योंकि उसके न्यास-स्थापना निक्षेप में विपरीतता है।

चतुःसंध्यां नरो यस्तु विदध्याद्भेदभावनाम्।

सम्यग्दर्शनातीतः संसारे ससरत्यरम्॥२॥

न्यासविपर्ययस्तु गुरुवचनादेवावगन्तव्यः। तथा चोक्तं श्री वीरनन्दिशिष्यैः

श्रीपद्मनन्दिभिराचार्यैः।

विम्बादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं च।

पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता वक्तुं परस्य किमु कारयितुं द्वयस्य॥१॥

चतुः संध्या-जो मनुष्य उक्त चार सर्वों में भेद भावना करता है वह सम्यग्दर्शन

से रहित है तथा शीघ्र ही संसार में परिभ्रमण करता है।

न्यास-स्थापना की विपरीतता गुरु के वचन से जानना चाहिए। जैसा कि श्री वीरनंदी के शिष्य श्री पद्मनंदी आचार्य ने कहा है-

बिम्बादलो-जो मनुष्य भक्तिपूर्वक (अधिक नहीं तो कम से कम) बिम्बादल कुन्दरू के पत्र के समान ऊँचे जिन मंदिर और जौ के बराबर ऊँची जैन प्रतिमा को बनवाता है उसके पुण्य का कथन करने के लिए सरस्वती भी समर्थ नहीं हैं फिर जो अधिक ऊँचे जिन मंदिर और जिन प्रतिमा को बनवाता है उसके पुण्य का तो कहना ही क्या है।

और जो प्रतिमा के ऊपर वस्त्र तथा आभूषणादि धारण करते हैं तथा प्रतिष्ठा के समय दही और सत्तू प्रतिमा के मुख में रखते हैं उनके मत का निराकरण करने के लिए महामुनि श्री गौतम ने पृथ्वी छन्द कहा है-

निराभरण-राग के वेग का उदय दूर हो जाने से जिनेन्द्र देव का शरीर आभरणों के बिना ही दैदीप्यमान रहता है, स्वाभाविक रूप की निर्दोषता के कारण वस्त्र के बिना ही मनोहर दिखता है, हिंस्य और हिंसा का क्रम नष्ट हो जाने से शस्त्रों के बिना ही अत्यंत निर्भय है और नाना प्रकार की वेदनाओं का क्षय हो जाने से भोग्य वस्तुओं के बिना ही तृप्ति से युक्त रहता है। जैसा जिनेन्द्र देव का शरीर होता है वैसी ही उनकी प्रतिमा होती है।

इक्कहि-जिनेन्द्र भगवान् को एक फूल चढ़ाना देव और मनुष्यों की ऋद्धि को देता है तथा क्षुद्रहीन पर्यायों को दूर करता है।

एक्कहि-जो भगवान् को एक फूल चढ़ाता है उसे समवशरण में अनेक फूल प्राप्त होते हैं अर्थात् वह पुष्पवृष्टि नामक प्रातिहार्य को प्राप्त होता है। यह जीव ज्यों-ज्यों जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करता है त्यों-त्यों उसके पाप नष्ट होते जाते हैं।

इसी प्रकार मुनिवर समंतभद्र स्वामी ने दो आर्या कहे हैं-

देवाधिदेव-मनोरथों को पूर्ण करने वाले एवं काम को भस्म करने वाले देवाधिदेव-जिनेन्द्र देव के चरणों की शुश्रूषा समस्त दुःखों को हरने वाली है, इसलिये निरंतर उसे करना चाहिए।

अर्हच्चरण-राजगृह नगर में हर्ष से मत्त हुए मेंढक ने महात्माओं के आगे एक फूल के अर्हत भगवान् के चरणों की पूजा का माहात्म्य प्रगट किया।

भगवान् की वह प्रतिमा अजङ्गमदेह होती है-चलने फिरने की क्रिया से रहित होती है। सुवर्ण और मरकतमणि से बनी स्फटिक मणि से रचित, इन्द्रनीलमणि से निर्मित, पद्मरागमणि से रचित, मूँगे से बनी तथा चंदन की लकड़ी से निर्मित प्रतिमा अजंगम प्रतिमा कहलाती है। ऐसी प्रतिमा किनकी होती है? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं-वह प्रतिमा दर्शन और ज्ञान के द्वारा निर्मल चारित्र को धारण करने वाले तीर्थंकर परमदेव की होती है। यह प्रतिमा निर्ग्रथ अर्थात् वस्त्र, आभूषण, जटा, मुकुट तथा शस्त्रों से रहित होती है और वीतराग अर्थात् राग रहित भाव के उत्पन्न करने में समर्थ रहती है। सर्वज्ञ वीतराग के मत में ऐसी ही प्रतिमा होती है।

जङ्गम प्रतिमा का वर्णन

जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।

सा होइ वंदणीया णिगंथा संजदा पडिमा॥११॥

यश्चरति शुद्धचरणं जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम्।

सा भवति वंदनीया निर्ग्रथा सांयता प्रतिमा॥११॥

गाथार्थ-जो निरतिचार चारित्र का पालन करते हैं, जिनश्रुत को जानते हैं, अपने योग्य वस्तु को देखते हैं तथा जिनका सम्यक्त्व शुद्ध है, ऐसे मुनियों का निर्ग्रथ शरीर जंगम प्रतिमा है। वह वंदना करने के योग्य है।

विशेषार्थ-जो चरणानुयोग के अनुसार शुद्ध निरतिचार चारित्र का पालन करते हैं। जो जिनेन्द्र-प्रणीत शास्त्र-जिनागम को जानते हैं, अपने योग्य वस्तु को देखते हैं और जिनका सम्यक्त्व पच्चीस दोषों से रहित है, ऐसे संयमी मुनियों के चौबीस प्रकार के परिग्रह से रहित जो शरीर हैं वे जंगम चलती-फिरती प्रतिमा है तथा वंदना-नमस्कार करने के योग्य है।

अब सिद्ध प्रतिमा का वर्णन करते हैं-

दंसण अणंतणाणं अणंतवीरिय अणंतसुक्खाय।

सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मडुबंधेहिं॥१२॥

दर्शनानन्तज्ञानं अनन्तवीर्या अनन्तसुखाश्च।

शाश्वतसुखा अदेहा मुक्ताः कर्माष्टबन्धैः॥१२॥

सत्तालोचनमात्रमित्यपि निराकारं मतं दर्शनं-

साकारं च विशेषगोचरमिति ज्ञानं प्रवादीच्छया।

ते नेत्र क्रमवर्तिनी सरजसां प्रदेशिके सर्वतः-
 स्फूर्जन्ती युगपत्पुनर्विरजसां युष्माकमङ्गातिगाः
 तथा च नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिना चोक्तम्-
 दंसणपुव्वं पाणं छदुमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा।
 जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि।।१।।

गाथार्थ-जो अनंत दर्शन तथा अनंत ज्ञान रूप हैं, अनंत वीर्य और अनंत सुख से युक्त हैं, अविनाशी सुख से सहित हैं शरीर-रहित हैं और आठ कर्मों के बंधन से छूट चुके हैं, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी सिद्ध प्रतिमा हैं।

विशेषार्थ-वस्तु की सत्ता मात्र के अवलोकन को दर्शन कहते हैं। यहाँ अनंत दर्शन से केवल दर्शन का ग्रहण होता है। काकक्षिगोलकन्याय से अनंत शब्द का दर्शन और ज्ञान दोनों के साथ संबंध होता है इसलिये अनंत दर्शन और अनंत ज्ञान ये दोनों शब्द सिद्ध होते हैं। यहाँ अनंत ज्ञान का अर्थ वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करने वाला केवलज्ञान है। केवलदर्शन और केवलज्ञान ये दोनों ही लोक तथा अलोक में व्यापक हैं। उन दोनों के साथ तादात्म्य संबंध होने से सिद्ध परमेष्ठी अनंत ज्ञान और अनंत दर्शन रूप हैं। जैसा कि महाकवि आशाधर ने कहा है-

सत्ता-जो सत्ता मात्र का अवलोकन करता है ऐसा दर्शन निराकार घटपटादि के विकल्प से रहित माना गया है और जो घटपटादि विशेष को विषय करता है ऐसा ज्ञान साकार-सविकल्पक माना गया है। ये ज्ञान और दर्शन नेत्र के समान हैं तथा छद्मस्थ ज्ञानावरण-दर्शनावरण से युक्त जीवों के क्रम से प्रवृत्त होते हैं। छद्मस्थ जीवों के ज्ञान और दर्शन प्रादेशिक हैं अर्थात् सीमित स्थान की बात को जानते हैं परन्तु हे शरीर रहित सिद्ध परमेष्ठी! यतश्च आप ज्ञानावरणादि रज से रहित हैं अतः आपके ये दोनों लोक-अलोक में सर्वत्र व्याप्त हैं तथा एक साथ प्रकाशमान हैं।

ऐसा ही श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने कहा है-

दंसण-छद्मस्थ जीवों का ज्ञान, दर्शन-पूर्वक होता है उनके दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते परन्तु केवली जिनेन्द्र में दोनों एक साथ होते हैं।

अनंत ज्ञान और अनंत दर्शन के समान सिद्ध परमेष्ठी अनंत वीर्य और अनंत सुख से युक्त भी हैं। लोक और अलोक का स्वरूप देखने तथा जानने की जो शक्ति है उसे अनंत वीर्य जानना चाहिए। समस्त वस्तुओं के स्वरूप का परिज्ञान होने पर

सिद्ध परमेष्ठी को सुख उत्पन्न होता है इसलिये वे अनंत सौख्य से युक्त कहे जाते हैं। जैसा कि श्री नेमिचन्द्राचार्य ने त्रिलोकसार ग्रंथ के वैमानिकाधिकार के अंत में कहा है-

एयं सत्थं-जबकि लोक में एक शास्त्र अथवा समस्त शास्त्रों को यथार्थ रीति से जानने वाले मनुष्य अत्यधिक संतुष्ट होते हैं-सुखी होते हैं तब समस्त पदार्थों के स्वरूप को जानने वाले मनुष्यों की तो बात ही क्या है?

चक्रि-चक्रवर्ती, भोगभूमिज आर्य, धरणेन्द्र, सुरेन्द्र तथा अहमिन्द्र को तीन काल में जितना सुख होता है सिद्ध परमेष्ठी के एक क्षण का सुख उससे अनंत गुणा होता है।

सिद्ध परमेष्ठी शाश्वत-सुख हैं-अविनाशी सुख से सहित हैं, शरीर रहित हैं ज्ञानमय मूर्ति के धारक हैं और आठ कर्मों के बंधन से युक्त हैं। ऐसे सिद्ध भगवान् सिद्ध प्रतिमा कहलाते हैं।

आगे इन्हीं सिद्धों का और भी वर्णन करते हैं-

गिरुवममचलमखोहा निम्मिविया जंगमेण रूवेण।

सिद्धठाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा सिद्धा॥13॥

निरुपमा अचला अशोभा निर्मापिता अजङ्गमेन रूपेण।

सिद्धस्थाने स्थिता व्युत्सर्गप्रतिमा धुवाः सिद्धाः॥13॥

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।

उत्पातोऽपि यदि स्यात्त्रैलोक्यसंभ्रान्तिकरणपटुः॥1॥

गाथार्थ-वे सिद्ध परमेष्ठी निरुपम हैं, अचल हैं, क्षोभ रहित हैं, (संसारवस्था के अंतिम क्षण रूप उपादान से) निर्मापित हैं, अजंगम रूप से सिद्ध स्थान में स्थित हैं, कायोत्सर्ग अथवा पद्मासन मुद्रा में स्थित हैं और शाश्वत हैं।

विशेषार्थ-सिद्ध भगवान् निरुपम हैं-उपमा रहित हैं। ऐसा कोई पुरुष नहीं जिससे सिद्धों की उपमा की जा सके। अचल हैं-अपने स्थान से सरसों की अनी के एक भाग भी इधर-उधर नहीं जाते हैं। अक्षोभ हैं-क्षोभ से रहित हैं। जैसा कि आगामी उत्सर्पिणी काल में तीर्थंकर परमदेव होने वाले समंतभद्राचार्य ने कहा है-

काले-यदि तीनों लोकों में हलचल मचा देने में समर्थ उत्पात भी हो तो भी सैकड़ों कल्पकाल व्यतीत हो जाने पर भी मुक्त जीवों में विकार दृष्टिगोचर नहीं होता।

वे सिद्ध भगवान् स्थिर रूप से निर्मापित हैं, संसारावस्था के अंतिम क्षण रूप उपादान से सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए हैं और एक समय में तीन लोक की शिखर को प्राप्त हुए हैं, धर्मास्तिकाय का अभाव होने से आगे नहीं जाते हैं किन्तु अजंगम-स्थिर रूप से वहीं स्थिर हो जाते हैं। सिद्ध स्थान तीन लोक के ऊपर तनु वात-वलय में स्थित रहते हैं। सिद्धशिला को कुछ कम गव्यूति प्रमाण नीचे छोड़कर आकाश में निराधार स्थित हैं। व्युत्सर्ग प्रतिमा रूप हैं-कायोत्सर्ग अथवा पद्मासन से स्थित है क्योंकि मोक्ष जाने वालों के यही दो आसन निश्चित हैं। ध्रुव हैं-अपनी इस सिद्धत्व-पर्याय से ध्रुव हैं, शाश्वत हैं। पूर्व तथा इस गाथा में बताये हुए विशेषणों से युक्त सिद्ध परमेष्ठी सिद्ध प्रतिमाएँ हैं, इन्हीं की स्थिर प्रतिमा भी कहते हैं।

(4) दो गाथाओं द्वारा दर्शनाधिकार कहते

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संजमं सुधम्मं च।

णिगगंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं॥14॥

गाथार्थ-जो सम्यक्त्व, संयम और सुधर्म रूप मोक्षमार्ग को दिखलाता है तथा स्वयं निर्ग्रथ-परिग्रह रहित और ज्ञानमय है वह जिनमार्ग में दर्शन कहा गया है।

विशेषार्थ-जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग को दिखलाता है वह दर्शन है। यहाँ “कृत्ययुटोऽन्यत्रापि” व्याकरण के इस वचन से कर्तृवाच्य में युट् प्रत्यय होकर दर्शन, शब्द सिद्ध हुआ है। वह मोक्षमार्ग क्या है जिसे दर्शन कर्ता बनकर दिखलाता है? इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप मोक्षमार्ग को दिखलाते हैं।

तत्त्वार्थ-श्रद्धान रूप सम्यक्त्व, पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों रूप चारित्र तथा अनशनादि बारह प्रकार के तप रूप सुधर्म, यह मोक्षमार्ग है। वह दर्शन निर्ग्रथ है-बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह से रहित है तथा ज्ञानमय है-सम्यग्ज्ञान से रचा हुआ है। जिनमार्ग सर्वज्ञ वीतराग देव के द्वारा प्रतिपादित मार्ग में दर्शन को सम्यक्त्व रूप कहा है। यह सम्यक्त्व रूप दर्शन, मुनि और श्रावकों का तथा अविरत सम्यग्दृष्टि का आधारभूत कहा गया है।

जह फुल्लं गंधमयं भवदि हु खीरं स घियमयं चावि।

तह दंसणं हि सम्मं णाणमयं होइ रूवत्थं॥15॥

गाथार्थ-जिस प्रकार फूल गंधमय और दूध घृतमय होता है उसी प्रकार दर्शन भी निश्चय से सम्यग्ज्ञानमय होता है। यह सम्यग्दर्शन यति श्रावक और असंयत

सम्यग्दृष्टि के रूप में स्थित है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार पुष्प गंधमय होता है अर्थात् पुष्प के प्रत्येक कण में गंध विद्यमान रहता है और दूध घृतमय होता है अर्थात् दूध के प्रत्येक कण में घृत व्याप्त रहता है उसी प्रकार दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व भी निश्चय से सम्यग्ज्ञान होता है। यहाँ 'घियमयं चावि' में जो अपि शब्द दिया है उससे सुवर्ण पाषाण तथा काष्ठाग्नि आदि अन्य दृष्टांत भी जानने योग्य हैं यह दर्शन रूपस्थ है अर्थात् मुनि श्रावक और असंयत सम्यग्दृष्टि के रूप में स्थित है।

(5) जिनबिंब स्वरूप

जिणविम्बं गाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च।

जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणेसुद्धा॥16॥

गाथार्थ—जो ज्ञानमय है, संयम से शुद्ध है, अत्यंत वीतराग है तथा कर्मक्षय में कारणभूत शुद्ध दीक्षा और शिक्षा देते हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी जिनबिंब हैं।

विशेषार्थ—तीसरे आचार्य परमेष्ठी जिनबिंब हैं—जिन के आकार को धारण करने वाले हैं। वे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और यथासंभव अवधिज्ञान तथा यथासंभव मनःपर्यय ज्ञान से युक्त होने के कारण ज्ञानमय हैं। संयम-निरतिचार चारित्र से शुद्ध हैं और अतिशय वीतराग हैं—प्रीतिरूप राग से रहित हैं। यहाँ 'सुवीयरायं च' पद में जो चकार दिया है उससे आचार्य परमेष्ठी के गुणों को अधिक रूप से बढ़ाने वाली सिद्ध भूमि को भी जिनबिंब जानना चाहिए। आचार्य परमेष्ठी कर्मक्षय में कारण निर्मल व्रत धारण रूप दीक्षा और बारह अनुप्रेक्षा रूप शिक्षा को देते हैं। तात्पर्य यह है कि आचार्य जीवन्मक्त हैं अतः जिनेन्द्र के समान माननीय हैं। जैसा कि सोमदेव सूरी ने कहा है—

ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुरःसरः।

सूरिर्देव इवाराध्यः संसाराब्धितरण्डकः॥1॥

तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणाय वच्छल्लं।

जस्स य दंसण णाणं अस्थि धुवं चेयणाभावो॥17॥

तस्य च कुरुत प्रणामं सर्वा पूजां विनयं वात्सल्यं।

यस्य च दर्शनं ज्ञानं अस्ति धुवं चेतनाभावः॥17॥

ज्ञानकाण्डे—जो ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्ड में शिक्षा और दीक्षा में ऋषि, यति, मुनि और अनगार इन चार प्रकार के मुनियों के अग्रसर हैं तथा संसार रूपी

समुद्र से पार करने के लिए नौका के समान हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी देव के समान आराधना करने के योग्य हैं।

गाथार्थ—उन जिनबिंब रूप आचार्य परमेष्ठी को प्रणाम करो, सब प्रकार की पूजा करो उनके प्रति विनय और वात्सल्य भाव प्रगट करो जिनके कि सम्यग्दर्शन तथा निश्चित रूप से चेतना भाव विद्यमान है।

विशेषार्थ—यहाँ जिनबिंब शब्द से जिनबिंब के समान मुद्रा के धारक आचार्य परमेष्ठी का ग्रहण है। हे भव्य जीवों! तुम उन्हें पञ्चांग अथवा अष्टांग प्रणाम करो। 'च' शब्द से सूचित होता है कि उपाध्याय और सर्व साधु को भी प्रणाम करो। क्योंकि वे दोनों भी जिनबिंब स्वरूप ही हैं। सब प्रकार की अथवा अष्ट द्रव्य से होने के कारण अष्ट प्रकार की पूजा करो, इसके सिवाय विनय-हाथ जोड़ना, पैर पड़ना तथा सम्मुख जाना आदि भी करो। वात्सल्य स्नेह, भोजन, पान, पादमर्दन, शुद्ध तेल आदि के द्वारा शरीर का मालिश करना तथा धोना आदि सब कार्य तीर्थकर नामकर्म के बंध में कारणभूत वैय्यावृत्य भावना में शामिल हैं सो इन्हें भी करो। जैसा कि महामुनि समंतभद्र स्वामी ने कहा है-

व्यापत्ति-संयमी जनों की व्यापत्ति-विघ्न बाधा को दूर करना, पैर दाबना तथा गुणों में राग होने के कारण उनका जितना भी उपकार है वह सब वैय्यावृत्य है।

मूल गाथा में 'तस्स' पद के आगे जो चकार का ग्रहण किया है उससे यह अर्थ सूचित होता है कि आप लोग पाषाण आदि से निर्मित जिन प्रतिमा का पञ्चामृत से अभिषेक और आठ प्रकार की पूजा सामग्री से पूजा करो, वंदना तथा भक्ति भी करो। यदि तुम लोग गृहस्थ होते हुए भी तथाभूत जिन प्रतिमा की मान्यता नहीं करोगे तो कुंभीपाक आदि नरकों में पड़ोगे। जैसा कि सोमदेव स्वामी ने कहा है-

अपूजयित्वा-जो मनुष्य गृहस्थ होता हुआ भी देवों की पूजा और मुनियों को परिचर्या किये बिना भोजन करता है वह परम तम को प्राप्त होता है।

प्रश्न-परम तम, इसका क्या अर्थ है?

उत्तर-कुंभीपाक नरक।

सातवें नरक के पाँच बिल हैं उनके नाम इस प्रकार हैं 1. रौरव, 2. महारौरव, 3. असिपत्र, 4. कूट शाल्मली और 5. कुंभीपाक। सातवें नरक की चारों दिशाओं में जो चार बिल हैं वे आधी रज्जु प्रमाण हैं और उन चारों बिलों के बीच में जो कुंभीपाक

नाम का पाँचवाँ बिल है वह एक लाख योजन प्रमाण है। इन पाँचों बिलों के द्वारा एक राजू प्रमाण भूमि रुकी हुई है। जिसका लक्षण पहले कहा जा चुका है ऐसे जिनबिंब रूप आचार्य परमेष्ठी के दर्शन तथा ज्ञान विद्यमान रहता है और निश्चय से चेतना भाव अर्थात् आत्म स्वरूप की उपलब्धि रहती है। पाषाण आदि से निर्मित जिनबिंब में चेतना भाव स्थापना-निक्षेप से होता है।

तववयगुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।

अरहंतमुद्द ऐसा दायारी दिक्खसिक्खा य॥18॥

तपोव्रतगुणैः शुद्धः जानाति पश्यति शुद्ध सम्यक्त्वम्।

अर्हन्मुद्रा एषा दात्रौ दीक्षा शिक्षाणां च॥18॥

गाथार्थ-जो तप व्रत और गुण से शुद्ध हैं, वस्तु स्वरूप को जानते हैं तथा शुद्ध सम्यक्त्व के स्वरूप को देखते हैं ऐसे आचार्य ही अरहंत मुद्रा हैं-जिनबिंब है। यह अरहंत मुद्रा दीक्षा और शिक्षा को देने वाली है।

विशेषार्थ-तप के अनशन आदि बारह भेद हैं, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के भेद से व्रत के पाँच भेद हैं तथा गुणों के चौरासी लाख भेद पहले कहे जा चुके हैं जो इन तप आदि से शुद्ध हैं-निष्कलंक हैं-जिनके तप आदि में कभी दोष नहीं लगते, जो वस्तु स्वरूप को जानते हैं-सम्यग्ज्ञान से युक्त हैं तथा जो पच्चीस मल से रहित सम्यक्त्व के स्वरूप को देखते हैं-जानते हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी अरहंत मुद्रा हैं, सर्वज्ञ वीतराग अर्हंत भगवान् की मुद्रा-आकृति को धारण करने वाले हैं। इनके सिवाय यंत्र और मंत्र से जिनकी आराधना होती है ऐसी पाषाण निर्मित प्रतिमाएँ भी जिनबिंब कहलाती हैं। यह चकार से यात्रा तथा प्रतिष्ठा आदि कार्यों को प्रवर्ताने वाली है।

(6) जिनमुद्रा

दढसंजममुद्दाए इदियमुद्दा कसायदढमुद्दा।

मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया॥19॥

गाथार्थ-जो संयम की दृढ़ मुद्रा से सहित है, जिसमें इन्द्रियों का मुद्रण-संकोच है, जिसमें कषायों का दृढ़ मुद्रण-नियंत्रण है और जो सम्यग्ज्ञान से सहित है, ऐसी मुनिमुद्रा ही जिनमुद्रा है। जिनशासन में यही जिनमुद्रा कही गई है।

विशेषार्थ-छह काय के जीवों की रक्षा करना तथा छह इन्द्रियों को संकुचित

करना संयम मुद्रा है। जिसमें यह संयम मुद्रा वज्र से निर्मित के समान अत्यंत दृढ़ होती है वह मुनिमुद्रा जिनमुद्रा कहलाती है। जिस मुनिमुद्रा में स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र इन द्रव्येन्द्रियों का कछुए के समान संकोच किया जाता है तथा क्रोधादि कषायों का अच्छी तरह नियंत्रण होता है वह जिनमुद्रा कहलाती है। जिस मुनिमुद्रा में रात-दिन पठन-पाठन आदि के द्वारा ज्ञान का प्रचार होता है वह जिनमुद्रा है। जिनशासन में जिनमुद्रा ऐसी कही गई है। मुनियों के आकार को जिनमुद्रा और ब्रह्मचारियों के आकार को चक्रवर्ती-मुद्रा कहते हैं। ये दोनों ही मुद्राएँ माननीय हैं-पद के अनुकूल आदर के योग्य हैं। यदि कोई दुष्ट अभिप्राय उस जिनमुद्रा का सन्मान नहीं करता है तो वह जिनमुद्रा का द्रोही है तथा विशिष्ट जनों के द्वारा दण्डनीय है। शिर दाढ़ी और मूछ के केशों का लोंच करना, मयूर-पिच्छ धारण करना, कमण्डलु हाथ में रखना और नीचे के बाल रखना यह जिनमुद्रा मुनिमुद्रा है। इसका सम्मान किया जाता है। जैसा कि इन्द्रनंदी प्रतिष्ठाचार्य ने कहा है-

मुद्रा-सब जगह मुद्रा माननीय होती है, मुद्रा रहित का सन्मान नहीं होता। जिस प्रकार राजमुद्रा को धारण करने वाला अत्यंत हीन मनुष्य भी मान्य होता है। शास्त्र का यही निर्णय है।

(7) ज्ञानाधिकार

संजमसंयुक्तस्स य सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स।

णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं।।20।।

संयमसंयुक्तम्य च सुध्यानयोगस्य मोक्षमार्गस्य।

ज्ञानेन लभते लक्ष्यं तस्मात् ज्ञानं च ज्ञातव्यम्।।20।।

गाथार्थ-संयम से सहित और उत्तम ध्यान के योग से युक्त मोक्षमार्ग का लक्ष्य ज्ञान से ही प्राप्त होता है, अतः ज्ञान को जानना चाहिए।

विशेषार्थ-जो मोक्षमार्ग इन्द्रिय-संयम तथा प्राणी-संयम से युक्त है एवं आर्तरौद्र रूप खोटे ध्यानों से रहित होकर धर्म्य और शुक्ल नामक उत्तम ध्यानों से सहित है, उसके लक्ष्य निजात्म-स्वरूप को यह जीव ज्ञान के द्वारा प्राप्त करता है इसलिये ज्ञान को जानना चाहिए। साधु के मात्र आयतन आदि छह पदार्थों को ही नहीं जानना चाहिए किन्तु ज्ञान को भी जानना चाहिए। च शब्द परस्पर समुच्चय करने वाला है।

जह णवि लहदि हु लक्खं रहिओ कंडस्स वेज्जयविहीणो।

तह णवि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स॥२१॥

गाथार्थ-जिस प्रकार निशाना वेधने के अभ्यास से रहित पुरुष वाण के लक्ष्य निशाना को नहीं प्राप्त करता है उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष मोक्षमार्ग के लक्ष्य निजात्म-स्वरूप को नहीं प्राप्त करता है।

विशेषार्थ-निशाना वेधने के अभ्यास से रहित पुरुष जिस प्रकार वाण के निशाना को नहीं प्राप्त कर पाता है, उसी प्रकार अज्ञानी आत्म स्वरूप के चिंतन के अभ्यास से रहित पुरुष मोक्षमार्ग के लक्ष्य-निज आत्म स्वरूप को नहीं प्राप्त कर सकता है। मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप है।

णाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो।

णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स॥२२॥

गाथार्थ-ज्ञान पुरुष के होता है, अर्थात् विनय से संयुक्त सत्पुरुष ही ज्ञान को प्राप्त होता है और ज्ञान के द्वारा चिंतन करता हुआ वही सत्पुरुष मोक्षमार्ग के लक्ष्य निजात्म स्वरूप को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ-यहाँ ज्ञान से श्रुतज्ञान विवक्षित है वह श्रुतज्ञान निकट भव्य जीव के होता है तथा विनय से संयुक्त निकट-भव्य जीव ही उस श्रुतज्ञान को प्राप्त होता है। 'सुपुरुषोऽपि' के साथ जो अपि शब्द दिया है उससे यह सूचित होता है कि ब्राह्मी, सुंदरी, राजिमती तथा चंदना आदि के समान स्त्रियाँ भी ग्यारह अंग तक श्रुतज्ञान प्राप्त करती हैं और वे भी स्त्रीलिंग छेदकर स्वर्ग सुख का उपभोग कर राजकुल आदि में उत्पन्न हो तृतीय भव में मोक्ष को प्राप्त होती हैं। परन्तु पुरुष संपूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त कर उसी भव में मोक्ष जा सकते हैं।

प्रश्न-ऐसे ज्ञान को कौन पुरुष प्राप्त होता है?

उत्तर-विनय से सहित अर्थात् गुरुओं की चरण-रज से जिसका मस्तक रंगा हुआ है ऐसा सत्पुरुष ही प्राप्त होता है। वह विनयी मनुष्य, श्रुतज्ञान के द्वारा रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग का चिंतन करता हुआ लक्ष्य-निजात्म स्वरूप को प्राप्त होता है।

मइधणु जस्स थिरं सद्गुण बाणा सुअत्थि रयणत्तं।

परमत्थबद्धलक्खो ण वि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स॥२३॥

गाथार्थ-मतिज्ञान जिसका मजबूत धनुष है, श्रुतज्ञान जिसकी डोरी है, रत्नत्रय जिसके वाण हैं और परमार्थ में जिसने निशाना बाँध रखा है, ऐसा पुरुष मोक्षमार्ग में

नहीं चूकता है।

विशेषार्थ—जिस मुनि के पास मतिज्ञान रूपी निश्चल धनुष है, श्रुतज्ञान रूपी डोरी है, भेदाभेद रत्नत्रय रूप वाण हैं और निजात्म स्वरूप परमार्थ में जिसने अपना लक्ष्य बाँध रखा है, ऐसा मुनि मोक्षमार्ग के लक्ष्य में कभी नहीं चूकता। जैसा कि श्री वीरनंदी के शिष्य पद्मनंदी आचार्य ने कहा है—

प्रेरिता—जिन्होंने श्रुतज्ञान रूपी डोरी से युक्त मतिज्ञान रूपी धनुष के द्वारा वाणों की तरह सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय को प्रेरित किया है—चलाया है और जो बाह्य पदार्थ रूप निशाने के विषय में अकृतश्रम-अनभ्यस्त हैं अर्थात् निजात्म स्वरूप रूपी लक्ष्य के वेधने में ही जिन्होंने श्रम किया है, ऐसे मुनि आत्मरण में कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर पाते हैं।

इसी प्रकार सोमदेव स्वामी ने भी श्रुतज्ञान के गुणों की स्तुति की है।

देवस्वरूपं

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च।

सो देइ जस्स अत्थि दु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा।।24।।

स देवो योऽर्थं धर्मं कामं सुददाति ज्ञानं च।

स ददाति यस्य अस्ति तु अर्थः धर्मश्च प्रव्रज्या।।24।।

अत्यल्पा—इन्द्रियों से होने वाला यह मतिज्ञान अत्यंत अल्प है, अवधि ज्ञान अवधि सीमा से सहित है, आश्चर्य से युक्त मनःपर्यय ज्ञान किसी मुनि के होता है फिर भी अत्यंत अल्प है और यह केवलज्ञान रूप ज्योति इस समय अत्यंत दुर्लभ होने से मात्र कथा का विषय है परन्तु श्रुतज्ञान समस्त पदार्थों को विषय करता है तथा सुलभ भी है अतः उसके माहात्म्य का क्या वर्णन करें? अर्थात् उसका माहात्म्य वर्णनातीत है।

गाथार्थ—देव वह है जो अर्थ, धर्म, काम और ज्ञान को अच्छी तरह देता है। लोक में यह न्याय है कि जिसके पास जो वस्तु होती है वही उसे देता है। देव के पास अर्थ है, धर्म है (चकार से) काम है और प्रव्रज्या-दीक्षा अथवा ज्ञान है।

विशेषार्थ—अर्थ, निधि-रत्न आदि धन को कहते हैं। धर्म का लक्षण चारित्र, दया, वस्तु-स्वभाव, आत्मोपलब्धि अथवा उत्तम क्षमा आदि दश भेद हैं। काम का अर्थ अर्ध मण्डलिक, मण्डलिक-महामण्डलिक, बलभद्र, नारायण, चक्रवर्ती, इन्द्र,

धरणेन्द्र और तीर्थंकर के भोग हैं और ज्ञान का अर्थ केवलज्ञान रूप ज्योति है। जो इन अर्थ धर्म आदि को देता है वह देव है। जिस पुरुष के पास जो वस्तु होती है उसे ही वह देता है। अविद्यमान वस्तु को देने के लिए कोई कैसे समर्थ हो सकता है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि जिसके पास अर्थ-धन है वह धन देता है जिसके पास धर्म है वह धर्म देता है, जिसके पास प्रव्रज्या-दीक्षा है वह केवलज्ञान की प्राप्ति में कारणभूत प्रव्रज्या को देता है और जिसके पास सब सुख है वह सब सुख प्रदान करता है। जैसा कि गुणभद्राचार्य ने कहा है-

सर्वः प्रेषति-समस्त प्राणी शीघ्र ही समीचीन सुख प्राप्ति की इच्छा करते हैं, सुख की प्राप्ति समस्त कर्मों के क्षय से होती है समस्त कर्मों का क्षय सद्वृत्त-सम्यक्चारित्र से होता है, सद्वृत्त-सम्यक्चारित्र ज्ञान के अधीन है, ज्ञान आगम से होता है, आगम श्रुति से होता है, श्रुति आप्त से होती है, आप्त समस्त दोषों से रहित होता है और दोष रागादि हैं अतः सत्पुरुष लक्ष्मी के लिए युक्तिपूर्वक विचार कर सर्व सुखदायी उस आप्त की उपासना करें।

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।

देवो ववगयमोहो उदययरो भव्वजीवाणां।।25।।

धर्मो दयाविशुद्धः प्रव्रज्या सर्वसङ्गपरित्यक्ता।

देवो व्यपगतमोहः उदयकरो भव्यजीवानाम्।।25।।

गाथार्थ-दया से विशुद्ध धर्म, सर्वपरिग्रह से रहित प्रव्रज्या और मोह से रहित देव, ये तीनों भव्य जीवों का कल्याण करने वाले हैं।

विशेषार्थ-धर्म दया से विशुद्ध-निर्मल होता है। जो दया करता हुआ भी चमड़े के पात्र का जल पीता है, चमड़े के पात्र का तेल खाता है, चमड़े के बर्तन का घी खाता है तथा भाँग खाता है उस पुरुष का धर्म विशुद्ध नहीं होता, उसे मुनिवेष का धारी होने पर भी म्लेच्छ जानना चाहिए। प्रव्रज्या सर्वपरिग्रह से रहित होती है, जो हाथ में दण्ड रखता है, कम्बल रखता है तथा शूद्रा स्त्री के हाथ का छूआ अन्न खाता है वह प्रव्रज्या दीक्षा का धारक कैसे हो सकता है?

देव मोह से रहित होता है। जो देव अर्धांग में स्त्री को रखता है, जो देव हृदय स्थल पर लक्ष्मी को बैठाता है, जो देव हाथ में दण्ड धारण करता है, जो देव वेश्या का उपभोग करता है, और जो वसिष्ठ का पिता होता है वह देव कैसे हो सकता है? दया

से विशुद्ध धर्म, सर्वपरिग्रह से रहित प्रव्रज्या और मोह से रहित देव ये तीनों भव्य जीवों के उदय को करने वाले हैं अर्थात् उत्कृष्ट तीर्थंकर नामक शुभ पद के देने वाले हैं।

अब आगे श्री कुंदकुंद देव दो गाथाओं द्वारा तीर्थ का निरूपण करते हैं।

तीर्थ

वयसम्मत्तविसुद्धे पंचिंदियसंजदे णिरावेक्खे।

पहाएउ मुणी तित्थे दिक्खासिक्खासुण्हाणेण॥26॥

व्रतसम्यक्त्वविशुद्धे पञ्चेन्द्रियसंयते निरपेक्षे।

स्नातु मुनिस्तीर्थे दीक्षाशिक्षासुस्नानेन॥26॥

गाथार्थ-मुनि, व्रत और सम्यक्त्व से विशुद्ध, पञ्चेन्द्रियों से नियंत्रित और बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से रहित शुद्धात्म स्वरूप तीर्थ में दीक्षा तथा शिक्षा रूप उत्तम स्नान से स्नान करें।

विशेषार्थ-यहाँ जिस शुद्ध बुद्धैक स्वभाव रूप लक्षण से युक्त एवं संसार समुद्र से तारने में समर्थ निजात्म स्वरूप तीर्थ-जलाशय में मुनि को स्नान करने की प्रेरणा की गई है, वह व्रत तथा सम्यक्त्व से विशुद्ध है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच व्रत अथवा महाव्रत हैं शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनुपगृहण, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना नामक आठ दोष, ज्ञानमद आदि आठ मद, लोकमूढता आदि तीन मूढताएँ और कुदेव आदि छह अनायतन इन पच्चीस मलों से रहित तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इन दोनों के द्वारा वह तीर्थ विशुद्ध है-अत्यंत निर्मल है, साथ ही चर्मपात्र में रखे हुए जल के सेवन आदि से रहित होने के कारण अकश्मल है-उज्ज्वल है। वह तीर्थ पञ्चेन्द्रियों से संयत है-स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों इन्द्रियाँ जिसमें संयत हैं-बद्ध हैं-स्पर्श रस गंध रूप और शब्द इन पाँच विषयों से रहित हैं, इसके सिवाय वह तीर्थ निरपेक्ष है-बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा से रहित है ख्याति, लाभ आदि की आकांक्षाओं से रहित है और माया मिथ्यात्व तथा निदान इन तीन शल्यों से वर्जित है। इसी तीर्थ में प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान से युक्त, महात्मा, महानुभाव मुनि को स्नान करना चाहिए अर्थात् अष्ट कर्म मल रूप कलंक का प्रक्षालन करना चाहिए अथवा केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टय से संयुक्त होना चाहिए।

प्रश्न-किसके द्वारा स्नान करना चाहिए?

उत्तर-दीक्षा और शिक्षा रूप उत्तम स्नान के द्वारा।

प्रश्न-दीक्षा क्या है?

उत्तर-पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पञ्चेन्द्रियरोध, लोच तथा षडावश्यक किया आदि अट्टाईस मूलगुण, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म, अठारह हजार शील के भेद, चौरासी लाख गुण, तेरह प्रकार का चारित्र और बारह प्रकार का तप ये सब मिलकर दीक्षा कहलाती है।

प्रश्न-शिक्षा क्या है?

उत्तर-स्त्री प्रसंग का त्याग करना और अनित्य आदि बारह भावनाओं का चिन्तन करना जिनेन्द्र देव की शिक्षा है।

प्रश्न-सुस्नान क्या है?

उत्तर-जिसमें कर्मरूपी किट्टि-कालिमा का अभाव हो जाय।

जं णिम्लं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं।

तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि संतिभावेण॥27॥

यत्त्रिर्मलं सुधर्मं सम्यक्त्वं संयमस्तपः ज्ञानम्।

तत्तीर्थं जिनमार्गं भवति यदि शान्तभावेन॥27॥

गाथार्थ-जो निरतिचार, धर्म, सम्यक्त्व, संयम, तप और ज्ञान है वह जिनमार्ग में तीर्थ है, वह भी यदि शांत भाव से सहित हो। (यदि यह धर्म सम्यक्त्व आदि भाव क्रोध से सहित हैं तो तीर्थ नहीं कहलाते हैं।)

विशेषार्थ-निर्मल अतिचार से रहित जो उत्तम धर्म-चारित्र है वह तीर्थ है, तत्त्वार्थ-श्रद्धान रूप सम्यक्त्व तीर्थ है, इन्द्रियों और मन को वश में करना, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पाँच स्थावर जीवों की रक्षा करना अर्थात् विराधना नहीं करना और द्वीन्द्रियादि पञ्चेन्द्रियान्त त्रस जीवों की दया करना, यदि कहीं प्रमाद के दोष से विराधना हो भी जाय तो शास्त्रोक्त विधि से प्रायश्चित्त करना संयम कहलाता है। यह संयम भी संसार समुद्र से तारने वाला होने से तीर्थ है। तप का लक्षण इच्छाओं का निरोध करना है, वह अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति-परिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान के भेद से बारह प्रकार का होता है। तत्त्वार्थसूत्र-मोक्षशास्त्र के

नवम् अध्याय में विस्तार से तप का निरूपण किया गया है वहाँ से उसे जानना चाहिए। यह तप तीर्थ है। इसके सिवाय ज्ञान भी तीर्थ है। जिनमार्ग में निश्चय से यहाँ सब तीर्थ कहलाते हैं। व्यवहार नय से जगत् प्रसिद्ध, निश्चय तीर्थ की प्राप्ति में कारण तथा मुक्त-अवस्था को प्राप्त हुए मुनियों के चरणों से स्पृष्ट ऊर्जयन्त (गिरनार) शत्रुञ्जय, लाटदेश का पावागिरि आदि तीर्थ है।

इक्षोर्विकार रसयुक्त गुणेन लोके पिष्टोऽधिकं मधुरतामुपयाति यद्वत्।

तद्वच्च पुण्यपुरुषैरुषितानि नित्यं जातानि तानि जगतामिह पावनानि।।1।।

इक्षोर-जिस प्रकार लोक में गुड़ या शक्कर के रस से चूर्ण अधिक मधुरता को प्राप्त होता है उसी प्रकार पुण्य पुरुषों से निरंतर अधिष्ठित तीर्थ जगत् को पवित्र करने वाले होते हैं।

दुष्टमन्तर्गतं चित्तं तीर्थस्नानान्न शुद्ध्यति।

शतशोऽपि जलैर्घौतं सुराभाण्डमिवाशुचि।।1।।

दुष्ट-जिस प्रकार मदिरा का वर्तन सैकड़ों बार जल से धोने पर भी अशुद्ध ही रहता है उसी प्रकार मनुष्य का अंतर्वर्ती चित्त दुष्ट ही रहता है, तीर्थ स्नान से शुद्ध नहीं होता।

णामे ठवणे हि य संदब्बे भावेहि सगुणपज्जाया।

चउणागदि संपदिमं भावा भावन्ति अरहन्तं।।28।।

अब आगे चौदह गाथाओं द्वारा श्री कुंदकुंदाचार्य अर्हत्स्वरूप नामक महाधिकार का प्रारंभ करते हैं-

गाथार्थ-नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार निक्षेप, स्वकीय-गुण, स्वकीय पर्याय, च्यवन, आगति और संपदा इन नौ बातों का आश्रय करके भव्य जीव अरहंत भगवान् का चिंतन करते हैं।

विशेषार्थ-गुण जाति क्रिया और द्रव्य की अपेक्षा न रखकर किसी वस्तु के नाम रखने को नाम निक्षेप कहते हैं। तदाकार और अतदाकार वस्तु में किसी की कल्पना करने को स्थापना निक्षेप कहते हैं। भूत भविष्यत् काल की मुख्यता से पदार्थ के वर्णन करने को द्रव्य निक्षेप कहते हैं और जो पदार्थ वर्तमान में जिस रूप है उसी रूप उसके कथन कहने को भाव निक्षेप कहते हैं। इन चारों निक्षेपों की अपेक्षा अरहंत का कथन होता है। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य और अनंत सुख ये अर्हंत

के स्वकीय गुण हैं। दिव्य परमौदारिक शरीर, अष्ट महाप्रातिहार्य और समवशरण ये अरहंत भगवान् की स्वकीय पर्याय हैं। अर्हंत भगवान्-तीर्थकर भगवान् स्वर्ग अथवा नरक गति से च्युत होकर उत्पन्न होते हैं। भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्र में उनका आगमन होता है अर्थात् स्वर्ग या नरक से च्युत होकर इन क्षेत्रों में उत्पन्न होते हैं। उनके गर्भावतरण के छह मास पूर्व लगातार माता के आङ्गण में सुवर्ण और रत्नों की वर्षा होती है तथा गर्भावतरण हो चुकने पर नौ मास पर्यंत माता के आङ्गण में सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से कुबेर सुवर्ण और रत्नों की वर्षा करता है तथा उनका नगर सुवर्णमय हो जाता है, अरहंत भगवान् की इस समस्त संपत्ति का वर्णन महापुराण से जानना चाहिए। इन नौ बातों का आश्रय लेकर अत्यंत निकट श्रेष्ठ भव्य जीव अरहंत भगवान् की भावना करते हैं अर्थात् उन्हें अपने हृदय-कमल में निश्चल रूप से धारण करते हैं।

णामजिणा जिणणामा ठवणजिणा तह य ताह पडिमाओ।

दव्वजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणत्था।।1।।

दंसण अणंतणाणे मोक्खो णट्ठकम्मबंधेण।

णिरुवमगुणमारूढो अरहंतो एरिसो होई।।29।।

दर्शने अनन्तज्ञाने मोक्षो नष्टाष्टकर्मबन्धेन।

निरुपमगुणमारूढः अर्हन् ईदृशो भवति।।29।।

णामजिणा-अरहंत भगवान् के नाम हैं वे नामजिन हैं, उनकी प्रतिमाएँ स्थापना जिन हैं, अर्हंत भगवान् का जीव द्रव्य जिन है और समवशरण में स्थित भगवान् भावजिन हैं।

इस श्लोक में नामादि चार निक्षेपों की अपेक्षा अरहंत का वर्णन किया गया है।

गाथार्थ-जिनके अनंत दर्शन और अनंत विद्यमान हैं, आठों कर्मों का बंध नष्ट हो जाने से जिन्हें भाव मोक्ष प्राप्त हुआ है तथा जो अनुपम गुणों को प्राप्त हैं ऐसे अरहंत होते हैं।

विशेषार्थ-पदार्थ की सत्ता मात्र का अवलोकन होना दर्शन है और विशेषता को लिए हुए विकल्प-सहित जानना ज्ञान कहलाता है। ज्ञानावरण के क्षय से अनंत ज्ञान और दर्शनावरण के क्षय से अनंत दर्शन अरहंत भगवान् के प्रगट होता है। इन दोनों गुणों के रहते हुए उनके आठों कर्मों का बंध नष्ट हो जाने से मोक्ष-भावमोक्ष होता है।

प्रश्न- 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' मोहनीय तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय के क्षय से केवलज्ञान होता है-उमास्वामी के इस वचन से सिद्ध है कि अरहंत भगवान् के चार कर्म ही नष्ट हुए हैं फिर उन्हें 'नष्टानष्टकर्म-बंध' क्यों कहा जाता है?

उत्तर-आपने ठीक कहा है, परन्तु जिस प्रकार सेनापति के नष्ट हो जाने पर शत्रु समूह के जीवित रहते हुए भी वह मृत के समान जान पड़ता है क्योंकि विकार उत्पन्न करने वाले भाव का अभाव हो जाता है उसी प्रकार सब कर्मों के मुख्यभूत मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर यद्यपि अरहंत भगवान् के वेदनीय आयु नाम और गोत्र ये चार अघाति कर्म विद्यमान रहते हैं तथापि नाना प्रकार के फलोदय का अभाव होने से वे भी नष्ट हो गये, ऐसा कहा जाता है। उपमा-रहित अनंत-चतुष्टय रूप गुणों को प्राप्त हुए अरहंत अष्ट कर्म से रहित कहे जाते हैं। ऊपर कहीं विशेषताओं से युक्त पुरुष होता है तथा उपचार से उस मुक्त ही कहते हैं।

जरवाहिजम्ममरणं चउगङ्गमणं च पुण्णपावं च।

हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो॥३०॥

जराव्याधिजन्ममरणं चतुर्गतिगमनं च पुण्यपापं च।

हत्वा दोषकर्माणि भूतः ज्ञानमयोऽर्हन्॥३०॥

गाथार्थ-बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, चतुर्गति-गमन, पुण्य-पाप, अठारह दोष तथा घातिया कर्मों को नष्ट करके जो ज्ञानमय हुए हैं वे अरहंत हैं।

प्रश्न-दोष से क्या अभिप्राय है?

उत्तर-अठारह दोष। जैसे-

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तक भयस्मयाः।

न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥

क्षुत्पिपासा-क्षुधा, प्यास, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह और चकार से चिंता, अरति, निद्रा, विषाद, स्वेद, खेद और विस्मय ये अठारह दोष हैं जिस पुरुष में ये अठारह दोष नहीं होते हैं, वह आप्त कहलाता है।

प्रश्न-कर्म से क्या अभिप्राय है?

उत्तर-घातिया कर्म।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मों को नष्ट

करने से ही अरहंत अवस्था प्रगट होती है।

इन सब जरा, व्याधि आदि को नष्ट करके जब यह जीव ज्ञानमय-केवलज्ञान रूप हो जाता है तब अरहंत कहलाता है। इसे प्राकृत भाषा में 'अरहंत' और संस्कृत भाषा में 'अर्हत्' कहते हैं। अर्हत् शब्द 'अहं' धातु से सिद्ध होता है। उसका निरुक्तार्थ है-जो दूसरे जीवों में न पाई जाने वाली इन्द्रादिकृत अर्हणा-पूजा को प्राप्त करने की योग्यता रखता हो वह 'अर्हत्' है। समस्त पदार्थों के ज्ञाता होने से इन्हें सर्वज्ञ तथा राग-द्वेष से रहित होने के कारण वीतराग भी कहते हैं।

गुणठाणमग्गणेहिं य पज्जत्तीपाणजीवठाणेहिं।

ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरुहपुरिसस्स॥३१॥

मिच्चा सासण मिस्सो अविरयसम्मो य देसविरओ य।

विरया पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य॥१॥

उवसंतखीणमोहो सजोग केवल्लिज्जिणो अजोगी य।

चउदस गुणठाणाणि य कमेण सिद्धाय णायव्वा॥२॥

गाथार्थ-गुणस्थान, मार्गणा, पर्याप्ति, प्राण और जीव स्थान इन पाँच प्रकारों से अरहंत भगवान् की स्थापना करना चाहिए।

विशेषार्थ-गुणस्थान के द्वारा अरहंत की योजना करना चाहिए। वे गुणस्थान कौन हैं? इसका निर्देश दो गाथाओं द्वारा किया जाता है-

मिच्छा-1. मिथ्यादृष्टि, 2. सासादन, 3. मिश्र, 4. अविरत सम्यग्दृष्टि, 5. देशविरत, 6. प्रमत्तविरत, 7. अप्रमत्तविरत, 8. अपूर्वकरण, 9. अनिवृत्तिकरण, 10. सूक्ष्मसाम्पराय, 11. उपशांतमोह, 12. क्षीणमोह, 13. संयोगकेवली जिन और 14. अयोगकेवली जिन।

मार्गणा के द्वारा अरहंत की योजना करना चाहिए। मार्गणाएँ चौदह हैं उनका निर्देश आगे करेंगे। छह पर्याप्तियों के द्वारा अरहंत का निरूपण करना चाहिए। उन पर्याप्तियों का भी आगे निर्देश करेंगे। दश प्राणों के द्वारा अरहंत भगवान् का वर्णन करना चाहिए। उन प्राणों का भी आगे निर्देश करेंगे। जीव स्थानों के द्वारा अरहंत की योजना करना चाहिए। चौदह गुणस्थानों में जो जीव रहते हैं वही जीव स्थान हैं। गुणस्थानों का निर्देश ऊपर कर आये हैं उसी से जीव स्थानों को जानना चाहिए। इस प्रकार गुणस्थान-मार्गणा-पर्याप्ति-प्राण और जीव स्थान; स्थापना के इन पाँच प्रकारों से

अरहंत की योजना करना चाहिए।

तेहरमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो।

चउतीस अइसयगुणा होंति हु तस्सट्ट पडिहारा॥३२॥

गाथार्थ-तेरहवें गुणस्थान में विद्यमान सयोगकेवली जिनेन्द्र अरहंत कहलाते हैं उनके चौंतीस अतिशय और आठ प्रतिहार्य होते हैं।

विशेषार्थ-इस जीव की अरहंत अवस्था तेरहवें गुणस्थान में प्रकट होती है। उस गुणस्थान का नाम सयोगकेवली है। यहाँ केवलज्ञान प्रकट हो जाता है और साथ में योग विद्यमान रहते हैं इसलिये इस गुणस्थानवर्ती जीव की सयोगकेवली कहते हैं। जो मनुष्य तीर्थकर होकर अरहंत बनते हैं उनके चौंतीस अतिशय तथा आठ प्रातिहार्य होते हैं और जो सामान्य अरहंत होते हैं उनके यथासंभव कम भी अतिशय होते हैं। अब यहाँ चौंतीस अतिशय कौन हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए उनका वर्णन किया जाता है। चौंतीस अतिशयों में दश जन्म के, दश केवलज्ञान के और 14 देवकृत अतिशय होते हैं। जन्म के दश अतिशय इस प्रकार हैं-

1. नित्य निःस्वेदता अर्थात् कभी पसीना नहीं आना। 2. निर्मलता अर्थात् मल-मूत्र से रहित शरीर का होना। न केवल तीर्थकर अरहंत के मल-मूत्र का अभाव होता है किन्तु उनके माता-पिता के भी मल-मूत्र का अभाव होता है। जैसा कि कहा गया है-

तित्थयरा तप्पियरा हलहर चक्की य अद्धचक्की य।

देवा य भूयभूमा आहारो अत्थि णत्थि णीहारो।

तथा तीर्थकराणां श्मश्रुणी कूर्चश्च न भवति, शिरसि कुन्तलास्तु भवन्ति।

तथा चोक्तम्-

देवा वि य नेरइया हलहरचक्की य तह य तित्थयरा।

सब्बे केसवरामा कामा निक्कुंचिया होंति॥

तित्थयरा-तीर्थकर उनके माता-पिता, बलभद्र, चक्रवर्ती, अर्द्धचक्रवर्ती, देव और भोगभूमिया इनके आहार तो होता है परन्तु निहार नहीं होता।

इसी प्रकार तीर्थकरों के दाढ़ी और मूछ नहीं होती किन्तु शिर पर घुंघराले बाल होते हैं। जैसा कि कहा गया है-

देवावि-देव, नारकी, हलधर-बलभद्र, चक्रवर्ती, अर्द्धचक्रवर्ती, सब नारायण

और कामदेव ये दाढ़ी-मूछ से रहित होते हैं

3. दूध के समान सफेद खून और माँस का होना, 4. समचतुरस्र-संस्थान का होना, 5. वज्रर्षभनाराच संहनन का होना, 6. सुंदर रूप का होना, 7. सुगंधित शरीर का होना, 8. उत्तम लक्षणों का होना, 9. अनंत बल होना और 10. प्रिय तथा हितकर वचन बोलना। ये दश अतिशय तीर्थकर भगवान् के शरीर में जन्म से ही होते हैं।

अब केवलज्ञान संबंधी दश अतिशय कहते हैं-

1. चार सौ गव्यूति पर्यंत सुभिक्षका होना, 2. आकाश में गमन होना, 3. प्राणी का वध नहीं होना, 4. कवलाहार का न होना, 5. उपसर्ग नहीं होना।

(जो मनुष्य केवलियों के उपसर्ग तथा कवलाहार का वर्णन करते हैं उनका इस कथन से निराकरण हो जाता है।)

6. चारों दिशाओं में मुख दिखना, 7. सब विद्याओं का ईश्वरपना, 8. छाया का अभाव, (दर्पण में तीर्थकर के मुख का प्रतिबिंब नहीं पड़ता है और न उनके शरीर की छाया पड़ती है), 9. नेत्रों के पलक नहीं झपकना और 10. नख तथा केशों की वृद्धि नहीं होना; ये दश अतिशय घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न होते हैं।

अब देवकृत चौदह अतिशय कहते हैं-

1. सर्वार्धमागधीया भाषा-भगवान् को सर्वार्ध मगधी भाषा होती है।

प्रश्न-इसका क्या अर्थ है?

उत्तर-भगवान् की भाषा में आधा भाग भगवान् की भाषा का होता है जो कि मगध देश की भाषा रूप होता है और आधा भाग सर्वभाषा रूप होता है।

प्रश्न-यदि ऐसा है तो उस अतिशय में देवोपनीतपना किस प्रकार सिद्ध होता है?

उत्तर-मगध देवों के सन्निधान में संस्कृत भाषा उस भाषा रूप परिणमन करती है इसलिये अतिशय का देवोपनीतपना सिद्ध हो जाता है।

सब जनता में मैत्री-भाव होता है अर्थात् समस्त जन-समूह मागध और प्रीतिकर देवों के अतिशय के वश मागधी भाषा में बोलते हैं और परस्पर में मित्रता से रहते हैं-ये दो अतिशय हैं। 3. पृथिवी पर ऐसे वृक्ष प्रकट होते हैं जिनमें सब ऋतुओं के फलों के गुच्छे, किसलय और फूल दिखाई देते हैं। 4. भूमि दर्पण तल के समान मनोहर और रत्नमयी हो जाती है, 5. पीछे की ओर से शीतल मंद और सुगंधित वायु

आती है। सब लोगों को परम आनंद होता है। 7. आगे-आगे एक योजन तक सुगंध से मिश्रित वायु पृथिवी को स्वयं झाड़ती है और धूलि, कंटक, तृण, कीड़े, कंकड़ और पत्थरों को साफ करती रहती है। 8. स्तनित कुमार देव गंधोदक की वर्षा करते हैं, 9. भगवान् के पाँव के नीचे एक, आगे सात और पीछे सात। ये कमल एक योजन प्रमाण होते हैं। ये सब कमल पद्मराग मणिमय केशर से युक्त तथा आधा योजन विस्तार वाले होते हैं। 10. भूमि सब प्रकार के अनाजों की उत्पत्ति से सहित होती है। 11. आकाश शरद ऋतु के सरोवर के समान निर्मल होता है। 12. सब दिशाएँ तिमिरिकाधुंद, धूम्रता और अंधकार को छोड़कर निर्मल हो जाती हैं, टिड्डियाँ भी दिशाओं को आच्छादित नहीं करती और न धूलि ही उड़ती हैं। सब दिशाएँ ज्योतिष्क, व्यन्तर, कल्पवासी और भवनवासी देवों को यह कहकर बुलाती हैं कि आप लोग शीघ्र ही भगवान् की महापूजा के लिए आवें। 13. आगे-आगे आकाश में हजार आरों से युक्त, रत्नमय तथा सूर्य के तेज को तिरस्कृत करने वाला धर्म-चक्र आकाश में निराधार चलता है। 14. छत्र, ध्वजा, दर्पण, कलश, चामर, झारी, तालपत्र और ठौना ये आठ मंगल द्रव्य होते हैं, यह चौदहवाँ अतिशय है। चौदह अतिशय देवोपनीत होते हैं। इनके सिवाय तीर्थकर-अरहंत भगवान् के आठ प्रतिहार्य होते हैं।

अशोकवृक्षः सुरपुष्पघृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।

भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥

अब मार्गणा की अपेक्षा अरहंत का वर्णन करते हैं-

गइइंदियं च काए जोए वेए कसायणाणे य।

संजमदंसणलेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे॥३३॥

अशोक-1. अशोक वृक्ष, 2. देवों के द्वारा पुष्प-वृष्टि होना, 3. दिव्य-ध्वनि, 4. चामर, 5. सिंहासन, 6. भामण्डल, 7. दुन्दुभि बाजा, 8. छत्रत्रय; ये जिनेन्द्र देव के आठ प्रातिहार्य हैं।

गाथार्थ-गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, संज्ञित्व और आहारक इन चौदह मार्गणाओं में यथासंभव अरहंत की योजना करना चाहिए।

विशेषार्थ-गति मार्गणा की अपेक्षा गति के नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव ये चार भेद हैं, इनमें से अरहंत के मनुष्य गति है। इन्द्रिय मार्गणा की अपेक्षा इन्द्रियों के

स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इस प्रकार पाँच भेद हैं, इन पाँच जातियों में अरहंत भगवान पञ्चेन्द्रिय जाति हैं। काय मार्गणा के पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक इस प्रकार छह भेद हैं इनमें से अरहंत भगवान् त्रसकायिक हैं। योग मार्गणा में मनोयोग के सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग और अनुभय मनोयोग ये चार भेद हैं इनमें से अरहंत के सत्य मनोयोग और अनुभय मनोयोग ये दो मनोयोग हैं। वचन-योग के सत्य वचनयोग, असत्य वचनयोग, उभय वचनयोग और अनुभय वचनयोग ये चार भेद हैं, इनमें से अरहंत के सत्य वचनयोग और अनुभय वचनयोग ये दो वचन योग हैं। काय-योग के औदारिक काययोग, औदारिक मिश्र काययोग, वैक्रियिक काययोग, वैक्रियिक मिश्र काययोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्र काययोग और कार्मण काययोग ये सात भेद हैं इसमें से अरहंत के औदारिक काययोग तथा समुद्घात की अपेक्षा औदारिक मिश्र काययोग और कार्मण काययोग ये तीन काययोग हैं। इस तरह अरहंत के सब मिलाकर सात योग होते हैं जो इस प्रकार हैं- 1. सत्य मनोयोग, 2. अनुभय मनोयोग, 3. सत्य वचनयोग, 4. अनुभय वचनयोग, 5. औदारिक काययोग, 6. औदारिक मिश्र काययोग और 7. कार्मण काययोग। वेद मार्गणा के स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद ये तीन भेद हैं, इनमें से अरहंत कोई भी वेद नहीं है। कषाय के अनंतानुबंधी आदि पच्चीस भेद हैं उनमें से अरहंत के कोई भी कषाय नहीं है। ज्ञान के मतिज्ञान आदि पाँच भेद हैं इनमें से अरहंत के एक केवलज्ञान है। संयम मार्गणा के सामयिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय, यथाख्यात, संयमासंयम और असंयम की अपेक्षा सात भेद हैं, इनमें से अरहंत के एक यथाख्यात चारित्र है। दर्शन के चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधि दर्शन और केवल दर्शन ये चार भेद हैं इनमें से अरहंत के एक केवल दर्शन ही है। लेश्या के कृष्ण नील, कोपात, पीत, पद्म और शुक्ल ये छह भेद हैं इनमें से अरहंत के एक शुक्ल लेश्या ही है। भव्यत्व मार्गणा के भव्य और अभव्य के दो भेद हैं इनमें से अरहंत भव्य ही है। सम्यक्त्व मार्गणा के औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व, मिश्र, सासादन और मिथ्यात्व इस प्रकार छह भेद हैं इनमें से अरहंत के एक क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है। संज्ञी मार्गणा के संज्ञी और असंज्ञी ये दो भेद हैं इनमें से अरहंत एक संज्ञी ही है और आहार मार्गणा के आहारक अनाहारक की अपेक्षा दो भेद हैं इनमें से अर्हत के

दोनों भेद संभव हैं। तेरहवें गुणस्थान में सामान्य रूप से आहारक हैं और समुद्घात की अपेक्षा अनाहारक हैं तथा चौदहवें गुणस्थान में अनाहारक ही हैं।

आहारो य सरीरो तह इंदिय आणपाणभासा य।

पज्जत्तिगुणसमिद्धो उत्तमदेवो हवइ अरहो।।34।।

पर्याप्ति की अपेक्षा अरहंत का वर्णन

गाथार्थ-आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियाँ हैं। अरहंत भगवान् इन पर्याप्तियों के गुण से समृद्ध तथा उत्तम देव हैं।

विशेषार्थ-दूसरे मनुष्यों में न पाये जाने वाले शरीर की स्थिति के कारण, पुण्य रूप, नोकर्म वर्णना के अनंत परमाणु प्रतिसमय अरहंत भगवान् के शरीर के साथ संबंध को प्राप्त होते हैं वही आहार कहलाता है, ऐसा आहार ही अरहंत भगवान् के होता है अन्य मनुष्यों के समान कवलाहार नहीं होता क्योंकि उससे निद्रा और ग्लानि उत्पन्न होती है। यदि भगवान् अरहंत कवलाहार ग्रहण करते हैं तो वे देवता कैसे कहे जा सकते हैं क्योंकि कवलाहार खाने वाला मनुष्य ही होता है। जैसा कि भगवान् समंतभद्र ने कहा है-

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः।

तेन नाथपरमाऽसि देवता श्रेयसे जिनवृष! प्रसीद नः॥

कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।

नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर! तावक मचिन्त्यमीहितम्॥

मानुषीं-हे नाथ! हे जिनेन्द्र? आप चूँकि (आहार आदि के विषय में) मनुष्य की प्रकृति का उल्लंघन कर चुके हैं, अतः देवताओं में भी देवता हैं। आप उत्कृष्ट देवता हैं, इसलिये हमारे कल्याण के लिए प्रसन्न हूँजिये।

क्षुधा की वेदना होने पर यदि भगवान् कवलाहार करते हैं तो वे अनंत सुख से सहित क्यों कहे जाते हैं? क्योंकि वेदना होने पर सुख का घात हो जाता है। इत्यादि रूप से प्रमेय-कमल-मार्तण्ड आदि ग्रंथों में कवलाहार का निषेध किया गया है तथा स्त्री मुक्ति का भी खण्डन किया गया है।

आहार पर्याप्ति के सिवाय शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और चकार से मनःपर्याप्ति भी अरहंत के होती हैं। इस प्रकार काय वचन और मन की सत्ता रहते हुए भी भगवान् के कर्मबंध नहीं होता क्योंकि वे

जीवन्मुक्त हो चुके हैं। जैसा कि कहा गया है-

काय वाक्य-हे मुनीन्द्र ! आपके शरीर वचन और मन की प्रवृत्तियाँ करने की इच्छा से प्रवृत्त नहीं होती हैं, किन्तु स्वयं होती हैं, यह ठीक है, फिर भी आपकी प्रवृत्तियाँ वस्तु रूप को यथावत जाने बिना नहीं होती। इस तरह हे धीर-वीर भगवन् ! आपकी चेष्टा अचिन्त्य है।

रागादिदोषसंभूतिर्ज्ञेयामीषु तदागमात्।

असतः परदोषस्य गृहीतौ पातकं महत्॥12॥

आगे प्राणों की अपेक्षा अरहंत का वर्णन करते हैं-

पंचवि इंदियपाणा मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा।

आणप्याणप्याणा आउगपाणेण हीति दह पाणा॥35॥

अरहंत भगवान् ऊपर कही हुई आहार आदि छह पर्याप्तियों के गुण से समृद्ध हैं-संयुक्त हैं तथा उत्तम देव हैं। हरिहर ब्रह्मा आदि उत्तम देव नहीं हैं क्योंकि उनमें दोषों का सद्भाव है। जैसा कि कहा है-

रागादि-इन सब में राग आदि दोषों का सद्भाव उनके शास्त्रों से जानने योग्य है क्योंकि दूसरे के अविद्यमान दोष के ग्रहण करने में महान् पाप है।

गाथार्थ-पाँच इन्द्रिय प्राण, मन, वचन और काय के भेद से तीन बल प्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण तथा आयु प्राण ये दश प्राण हैं। अरहंत के ये दशों प्राण होते हैं।

विशेषार्थ-इन्द्रिय प्राण पाँच हैं। मन-वचन-काय के भेद से बल प्राण तीन होते हैं। श्वास का खींचना और छोड़ना यह आनप्राण नाम का प्राण है। इन सबको आयुप्राण के साथ मिलाने पर दश प्राण होते हैं। जिस प्रकार सकारान्त आयुष् शब्द नपुंसक लिंग में विद्यमान है उसी प्रकार 'आयु' यह उकारान्त शब्द भी नपुंसक लिंग में विद्यमान है। इस प्रकार अरहंत के दश प्राण होते हैं, यह जानना चाहिए।

आगे जीव स्थान की अपेक्षा अरहंत का वर्णन करते हैं-

मणुयभवे पंचिंदिय जीवट्टाणेसु होइ चउदसमे।

एदे गुणगणजुत्तो गुणमारूढो हवह अरहो॥36॥

गाथार्थ-जीव स्थान की अपेक्षा अरहंत, पञ्चेन्द्रिय मनुष्य कहलाते हैं। अरहंत पद चौदहवें जीव स्थान-गुणस्थान में भी होता है। इन सब गुणों के समूह से युक्त मनुष्य जब तक गुणस्थानों में आरूढ़ रहता है तब तक अरहंत कहलाता है,

गुणस्थानों से पार होने पर सिद्ध कहलाता है।

विशेषार्थ-मनुष्य भव में ही अरहंत कहलाता है और वह भी पञ्चेन्द्रिय ही। जीव स्थान के जो चौदह भेद पहले बताये गये हैं उनमें से चौदहवें जीव स्थान में भी अरहंत होता है। अर्थात् तेरहवें गुणस्थान में विद्यमान संयोग केवली तो अरहंत हैं ही चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोग केवली भी अरहंत होते हैं। इन सब गुणों के समूह से युक्त मनुष्य यदि गुणस्थान में आरूढ़ है अर्थात् तेरहवें चौदहवें गुणस्थान में विद्यमान है तो अरहंत होता है और यदि गुणस्थानों से परे हो गया है तो सिद्ध कहलाने लगता है।

श्री पं. जयचन्द्र छावड़ा ने इस गाथा का अर्थ यों किया है-

अर्थ-मनुष्य भव विषै पञ्चेन्द्रियनामा चौदमां जीव स्थान कहिये जीव समास ता विषै इतने गुणनि के समूह करि युक्त तेरहमें गुणस्थान कू प्राप्त अरहंत होय है।

भावार्थ-जीव समास चौदह कहे हैं एकेन्द्रिय सूक्ष्म, बादर, 2 बेइन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय ऐसे विकल त्रय 3, पञ्चेन्द्रिय असैनी, सैनी 2 ऐसे सात भये ते पर्याप्त अपर्याप्त करि चौदह भये तिन में चौदहमां सैनी पञ्चेन्द्रिय जीव स्थान अरहंत के है। गाथा में सैनी का नाम न लिया अर मनुष्य भव का नाम लिया सो मनुष्य सैनी ही होय है, असैनी न होय तातै मनुष्य कहने तै सैनी ही जानना।

आगे द्रव्य की अपेक्षा अरहंत का वर्णन करते हैं-

जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं।

सिंहाण खेल सेओ णत्थि दुगंछा य दोसो य।।37।।

गाथार्थ-अरहंत भगवान् बुढ़ापा व्याधि और दुःख से रहित हैं, आहार और निहार से रहित हैं, मल-रहित हैं। अरहंत भगवान् में नाक का मल, थूक, पसीना, ग्लानि उत्पन्न करने वाली घृणित वस्तु तथा वात वित्त कफ आदि दोष नहीं है।

विशेषार्थ-अरहंत भगवान् बुढ़ापा से रहित हैं, श्वास कास आदि बीमारियों से रहित हैं, शारीरिक मानसिक और आगन्तुक दुःखों से रहित हैं। प्राकृत में लिंग भेद होने से जरवाहि दुक्खरहियं, यहाँ नपुंसक लिंग का निर्देश जानना चाहिए। इसी प्रकार का लिंग भेद आगे भी जानना चाहिए। अरहंत भगवान् आहार और निहार से रहित हैं अर्थात् उनके कवलाहार नहीं होता और न निहार-मल-मूत्र की बाधा होती है। इस वाक्य से श्वेताम्बर मत का निराकरण हो जाता है। अरहंत के शरीर में मैल नहीं होता।

नाक का मल, थूक तथा पसीना उनके शरीर में नहीं होता है। इसके सिवाय ग्लानि के कारणभूत अन्य पात्र आदि भी अरहंत के नहीं होते हैं। वात पित्त और कफ ये दोष भी अरहंत में नहीं हरते हैं।

दस पाणा पज्जत्ती अट्टसहस्सा य लक्खणा भणिया।

गोखीरसंखधवलं मंसं रुहिरं च सव्वंगे।।38।।

गाथार्थ—अरहंत भगवान् के दश प्राण, छह पर्याप्तियाँ और एक हजार आठ लक्षण कहे गये हैं। उनके समस्त शरीर में गाय के दूध और शंख के समान सफेद माँस औ रूधिर होता है।

विशेषार्थ—अरहंत भगवान् के पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इस प्रकार दश प्राण, आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियाँ तथा एक हजार आठ लक्षण कहे गये हैं। इन एक हजार आठ लक्षणों में तिल मसक आदि नौ सौ व्यंजन होते हैं और एक सौ आठ लक्षण होते हैं। जैसा कि कहा गया है—

प्रसिद्धाष्टसहस्रेद्वलक्षणं त्वां गिरां पतिम्।

नाम्रामष्टसहस्रेणतोष्टुमोऽभीष्टसिद्धये।।11।।

प्रसिद्धाष्ट—हे भगवन्! आपके एक हजार आठ दैदीप्यमान लक्षण प्रसिद्ध हैं तथा आप वचनों के स्वामी हैं। अभीष्ट सिद्धि के लिए हम एक हजार आठ नामों के द्वारा आपकी स्तुति करते हैं।

उन लक्षण के मध्य में कुछ लक्षण कहे जाते हैं। जैसे श्रीवृक्ष, शंख, कमल, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चामर, सफेद छत्र, सिंहासन, ध्वजा, दो मीन, दो कलश, कछुआ चक्र, समुद्र, सरोवर, विमान, भवन, नाग, स्त्री-पुरुष का युगल, सिंह, वाण, धनुष, मेरू, इन्द्र, गंगा, पुर, गोपुर, चन्द्रमा और सूर्य, कुलीन घोड़ा, पंखा, बाँसुरी, वीणा, मृदंग, दो मालाएँ पाट का वस्त्र, दुकान, कुण्डल आदि नाना आभूषण, फला हुआ बगीचा, पके धान का खेत, रत्नद्वीप, वज्र, पृथिवी, लक्ष्मी, सरस्वती, कामधेनु, बैल, चूड़ामणि, महानिधि, कल्पलता, सुवर्ण, जम्बू वृक्ष, गरुड़, नक्षत्र, तारा पक्का महल, ग्रह, सिद्धार्थ वृक्ष, प्रातिहार्य और मंगल द्रव्य इत्यादि एक सौ आठ लक्षण होते हैं। भगवान् के समस्त शरीर में गाय के दूध और शंख के समान सफेद माँस और रूधिर रहता है।

एरिसगुणेहिं सव्वं अइसयवतं सुपरिमलामोयं।

ओरालियं च कायं णायव्वं अरहपुरिसस्स॥39॥

आगे भाव-निक्षेप की अपेक्षा अरहंत का वर्णन करते हैं-

मयरायदोसरहिओ कसायमलवज्जिओ य सुविसुद्धो।

चित्तपरिणामरहिदो केवलभावे मुणेयव्वो॥40॥

गाथार्थ-अरहंत भगवान् का औदारिक शरीर ऐसे गुणों से युक्त, अतिशयों से सहित और उत्तम सुगंधी से परिपूर्ण जानना चाहिए। द्रव्य-निक्षेप की अपेक्षा उक्त गुण विशिष्ट औदारिक शरीर ही अरहंत हैं।

विशेषार्थ-श्रीमान् भगवान् अरहंत सर्वज्ञ वीतराग देव का परमौदारिक शरीर पूर्वोक्त गुणों से संयुक्त, अतिशयों से सहित तथा संमर्दन मोड़ने से उत्पन्न होने वाली कपूर आदि के समान उत्तम गंध से परिपूर्ण जानना चाहिए। उनका यह शरीर स्थिर, स्थूल रूप तथा नेत्रों के द्वारा गम्य होता है-दिखाई देता है।

(37, 38 और 39वीं गाथा में अरहंत भगवान् के शरीर का वर्णन किया गया है। यहाँ द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा शरीर को ही अरहंत कहा है।)

गाथार्थ-भाव-निक्षेप की अपेक्षा अरहंत भगवान् को मद रहित, राग रहित, दोष रहित, कषाय रहित, नो कषाय रहित अतिशय विशुद्ध, मनोव्यापार-रहित और क्षायिक भावों से युक्त जानना चाहिए।

विशेषार्थ-अरहंत भगवान् ज्ञान आदि आठ मदों से रहित हैं, ममता परिणाम रूप राग से रहित हैं, क्षुधा तृष्णा आदि अठारह दोषों से रहित हैं, क्रोध-मान-माया-लोभ रूप कषायों तथा हास्य रति-अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुरुषवेद नपुंसक वेद रूप नो-कषायों से रहित हैं, अत्यंत विशुद्ध-शांत मूर्ति हैं, मन के व्यापार से रहित हैं और केवलज्ञान आदि क्षायिक भावों से युक्त हैं, ऐसा जानना चाहिए।

सम्महंसणि पस्सइ जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया।

सम्मत्तगुणविसुद्धो भावो अरहस्स णायव्वो॥ (41)

गाथार्थ-जो केवलदर्शन के द्वारा समस्त द्रव्य और उनकी पर्यायों को अच्छी तरह देखता है, केवलज्ञान के द्वारा उन्हें भलीभाँति जानता है, तथा सम्यक्त्व गुण से विशुद्ध है। उस आत्मा को ही अरहंत का भाव स्वरूप जानना चाहिए अथवा भाव निक्षेप की अपेक्षा वह आत्मा ही अरहंत है, ऐसा जानना चाहिए।

विशेषार्थ—जो सत्ता मात्र रूप पदार्थ को ग्रहण करने वाले दर्शन-केवल दर्शन गुण के द्वारा निष्पुत्र रूप से-निर्मल रूप से वस्तु-स्वरूप को ग्रहण करता है, जो विशेष की ग्रहण करने वाले साकार रूप केवलज्ञान के द्वारा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश द्रव्यों को अच्छी तरह जानता है और क्षायिक सम्यग्दर्शन से जो विशुद्ध है-निर्मल है। वह आत्मा ही अरहंत सर्वज्ञ देव का भाव स्वरूप है अथवा भाव निक्षेप से वह आत्मा ही अरहंत है, ऐसा जानना चाहिए।

इस प्रकार बोधप्राप्त में अर्हदधिकार नाम का दशवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

सुण्णहरे तरुहिट्टे उज्जाणे तह मसाणवासे वा।

गिरिगुहगिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा॥42॥

गाथार्थ—दीक्षा के धारक मुनि को शून्यघर में, वृक्ष के मूल में, उद्यान में, श्मशान में, पर्वत की गुफा में, पर्वत की शिखर पर, भयंकर वन में अथवा वसतिका में निवास करना चाहिए।

विशेषार्थ—गाथा में 'प्रव्रज्यावता निवासः कर्तव्यः' इन पदों का ऊपर से संबंध मिलाना चाहिए। इस तरह गाथा का यह अर्थ हुआ कि प्रव्रज्या-दीक्षा के धारक मुनि को शून्यगृह में-स्वामिहीन उजड़े मकान में, वृक्ष के नीचे, उद्यान कृत्रिम वन-बगीचा में, श्मशानवास-मरघट में, पर्वत की गुफा में अथवा पर्वत की शिखर पर, भयानक अटवी में अथवा वसतिका में नगर के बाहर बने हुए मठ आदि में या ग्राम-नगर आदि में रहना चाहिए नगर में मुनि को पाँच रात तक रहना चाहिए। ग्राम में अधिक निवास न करना चाहिए।

सवसा सत्तं तित्थं वचचइदालत्तयं च वुत्तेहिं।

जिणभवणं अह वेज्झं जिणमग्गे जिणवरा विति॥43॥

गाथार्थ—शून्यघर आदि स्थान स्ववश हैं-स्वाधीन हैं। इनमें रहकर मुनि को सत्त्व, तीर्थ, जिनागम और जिन मंदिर इनका ध्यान करना चाहिए; ऐसा जिनमार्ग में जिनेन्द्र देव जानते हैं-कहते हैं।

विशेषार्थ—42वीं गाथा में शून्य घर आदि स्थानों में मुनियों को निवास करने का आदेश दिया गया है, उसका कारण बताते हुए कहते हैं कि ये प्रदेश स्ववश है पराधीनता से रहित है, मुनि के स्वाध्याय और अध्ययन के योग्य हैं। इस गाथा में कहते हैं कि उक्त स्थानों में स्थित रहकर क्या करना चाहिए? मुनियों को उक्त स्थानों

में स्थित रहकर सत्व, तीर्थ, वचश्चैत्यालय-जिनागम और जिन भवन-अकृत्रिम चैत्यालयों का ध्यान करना चाहिए। अब सत्व आदि का स्वरूप स्पष्ट करते हैं-अपने शरीर के छिद जाने भिद जाने अथवा सौ टुकड़े किये जाने पर भी व्रत को खण्डित नहीं करना, चारित्र को निश्चल रखना और ब्रह्मचर्य की रक्षा रखना हमारा कर्तव्य है, इस प्रकार के साहस को सत्व कहते हैं। द्वादशांग को तीर्थ कहते हैं अथवा ऊर्जयंत-गिरनार आदि क्षेत्र तीर्थ कहलाते हैं। वचश्चैत्यालय का अर्थ परमागम, शब्दागम और युक्त्यागम रूप जिन शास्त्र है। (सिद्धांत शास्त्र को परमागम, व्याकरण साहित्य को शब्दागम और न्यायशास्त्र को युक्त्यागम कहते हैं।) जैसा कि कहा है-

वारह अंगंगिज्जा दंसणतिलया चरित्त वच्छहरा।

चउदस पुव्वाहरणा ठावेदव्वा य सुअदेवी॥

वारह-द्वादशांग जिसका शरीर है, सम्यग्दर्शन जिसका तिलक है, चारित्र जिसका वस्त्र है और चौदह पूर्व जिसके आभरण हैं, ऐसी श्रुत देवी की स्थापना करना चाहिए।

जिन भवन शब्द से मंगलभूत तथा समस्त भव्य जीवों का मंगल करने वाले कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्यालय समझना चाहिए। जिन वचन प्रमाण हैं और उनमें अकृत्रिम चैत्यालयों का वर्णन है इसलिये वर्तमान में दृष्टिगोचर न होते हुए भी उनका अस्तित्व स्वीकार्य है जैसा कि चामुण्डराय और राजमल्ल देव के गुरु नेमिचन्द्राचार्य ने त्रिलोकसार ग्रंथ में कहा है

भवणव्वितरजोइस विमाणणरतिरिय लोय जिणभवणे।

सव्वामरिदणरवइ संपूजिय वंदिए वदे॥

भवण-भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी, वैमानिक देव तथा नरतिर्यलोक-मध्यलोक में समस्त इन्द्रों और राजाओं के द्वारा पूजित और वंदित जो जिन भवन हैं, मैं उनकी वंदना करता हूँ।

समस्त अकृत्रिम चैत्यालयों की संख्या का परिज्ञान कराने के लिए श्री पूज्यपाद स्वामी ने आर्या छन्द लिखा है-

नवनवचतुःशतानि च सप्त च नवतिः सहस्रागुणिता षट् च।

पंचाशत्यञ्चवियत्प्रहताः पुनरत्र कोटयोऽष्टौ प्रोक्ताः॥

णवकोडिसया पणवीसा लक्खा तेवण्ण सहससगवीसा।

नवतिसय तह अडयाला जिणपडिम अकिट्टिमं वंदे।।

प्रव्रज्या

पंचमहव्वयजुत्ता पंचिदियसंजया णिरावेक्खा।

सज्झायझाणजुत्ता मुणिवरवसहा णिइच्छन्ति।।44।।

पज्ममहाव्रतयुक्ता पञ्चेन्द्रियसंयता निरपेक्षाः।

स्वाध्यायध्यानयुक्ता मुनिवरवृषभा नोच्छन्ति।।44।।

नवनव-आठ करोड़ तिरेपन लाख सत्तानवे हजार चार सौ इक्यासी अकृत्रिम चैत्यालयों की संख्या है। एक-एक चैत्यालय में एक सौ आठ, एक सौ आठ प्रतिमाएँ होती हैं सब चैत्यालयों की प्रतिमाओं की संख्या इस प्रकार है-

णवकोडि-नौ सौ पच्चीस करोड़ छप्पन लाख सत्ताईस हजार चार सौ अड़तालीस। ज्योतिषी और व्यन्तर देवों के चैत्यालयों की संख्या नहीं है क्योंकि उनके यहाँ असंख्यात चैत्यालय आगम में बतलाये हैं। जिनमार्ग-जिनशासन में अरहंत देव ऐसा कहते हैं कि सत्य, तीर्थ, शास्त्र, पुस्तक, जिनभवन और जिन प्रतिमा ये सब, मुनियों, श्रावकों और अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों के ध्यान के आलंबन हैं अर्थात् वे इनका ध्यान करते हैं। जो इन्हें नहीं मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं।

गाथार्थ-जो पाँच महाव्रतों से सहित हैं, जिन्होंने पाँच इन्द्रियों को वश कर लिया है, जो प्रत्युपकार की वाञ्छा से रहित है और जो स्वाध्याय तथा ध्यान से सहित हैं, ऐसे श्रेष्ठ मुनिराज उपर्युक्त सत्व-तीर्थ आदि वेध्यों की अत्यंत इच्छा करते हैं।

विशेषार्थ-जो पहले कहे हुए पाँच महाव्रतों से सहित हैं अर्थात् सब जीवों की दया पालते हैं, सत्य वचन बोलते हैं, अचौर्य व्रत को धारण करते हैं, ब्रह्मचर्य व्रत से सहित हैं, निष्परिग्रह हैं, आस्रव के योग्य परिग्रह से रहित हैं और रात्रि भोजन के त्यागी हैं ऐसे ऋषि ध्यान करने योग्य सत्व तीर्थ आदि वस्तुओं को निश्चय से मानते हैं क्योंकि वे जिनवचन को प्रमाणभूत स्वीकृत करते हैं। जिन्होंने स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों को संयत कर लिया है अर्थात् अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होने से रोक लिया है तथा जो प्रत्युपकार की इच्छा से रहित हो भव्य जीवों के संबोधने में सदा तत्पर रहते हैं ऐसे ऋषि उक्त वेध्यों की अत्यधिक इच्छा रखते हैं। इसी प्रकार जो स्वाध्याय तथा ध्यान से युक्त हैं। स्वाध्याय पाँच प्रकार का होता है-1. वाचना, 2. पृच्छना, 3. अनुप्रेक्षा, 4. आम्नाय और 5. धर्मोपदेश। शिष्यों की व्युत्पत्ति के लिए शास्त्र के अर्थ का

कथन करना वाचना हैं अज्ञात वस्तु को समझने के लिए अथवा ज्ञात वस्तु को दृढ़ करने के लिए प्रश्न पूछना पृच्छना है। पठित अथवा व्याख्यात शास्त्र का चित्त में पुनः-पुनः चिंतन करना अनुप्रेक्षा है। शुद्ध पाठ करना आम्नाय है और मुनियों तथा श्रावकों के आगे महापुराणादि शास्त्रों का व्याख्यान करना धर्मोपदेश है। आर्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड़कर धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यान में प्रवृत्ति करना इस तरह विधि निषेध रूप ध्यान है। ऐसे दिगम्बर साधु, सब साधुओं से अधिक श्रेष्ठ हैं, सब लोगों के द्वारा प्रशंसनीय हैं तथा परमार्थ यति हैं-वास्तविक साधु हैं, वे इन वेध्यों-ध्यान योग्य वस्तुओं की अतिशय इच्छा रखते हैं-बार-बार इनका अभ्यास करते हैं।

गिहगंधमोहमुक्का वावीसपरीसहा जियकसाया।

पावारंभविमुक्का पव्वजा एरिसा भणिया।।45।।

गाथार्थ-जो निवास स्थान और परिग्रह के मोह से रहित है, बाईस परीषहों को जीतने वाली है, कषाय से रहित है तथा पाप के आरंभ से अथवा पापपूर्ण खेती आदि के आरंभ से मुक्त है ऐसी दीक्षा कही गई है।

विशेषार्थ-गृहग्रन्थमोहमुक्ता-गृह का अर्थ निवास-स्थान है, ग्रंथ परिग्रह को कहते हैं, वह परिग्रह बाह्य और अभ्यंतर के भेद से दो प्रकार का है। उनमें बाह्य परिग्रह के दश भेद हैं-1. क्षेत्र-जहाँ अनाज पैदा होता है, 2. वास्तु-मकान, 3. हिरण्य-चाँदी से निर्मित पदार्थ, 4. सुवर्ण-सोना, 5. धन-गाय भैंस आदि, 6. धान्य-धान गेहूँ आदि अनाज, 7. दासी-काम करने वाली स्त्री, 8. दास-कार्य करने वाला पुरुष अथवा नपुंसकों का वर्ग, 9. कुप्य-रेशमी सूती कोशा आदि के वस्त्र तथा 10. चंदन अगुरु आदि सुगंधित पदार्थ। अभ्यंतर परिग्रह के चौदह भेद हैं-

मिथ्यात्ववेदी हास्यादिषट् कषायचतुष्टयम्।

रागद्वेषौ च सङ्गाः स्युरन्तरङ्गाश्चतुर्दश।।

मिथ्यात्व-मिथ्यादर्शन, वेद हास्यादि छह नो-कषाय, क्रोधादि चार कषाय-राग और द्वेष ये चौदह अंतरंग परिग्रह हैं।

जिन दीक्षा, निवास स्थान और बाह्याभ्यंतर भेद वाले चौबीस प्रकार के परिग्रह से रहित हैं। बाईस परीषहों को जीतने वाली है तथा कषाय से रहित हैं। वे बाईस परीषह कौन हैं? इसके उत्तर में बाईस परीषहों के नाम गिनाते हैं-क्षुधाजय-भूख की बाधा को जीतना, 2. पिपासा-जय-प्यास की बाधा को जीतना, 3. शीतजय-शीत की

बाधा को जीतना, 4. उष्णजय-गर्मी की बाधा को जीतना, 5. दंशमशक सर्वोपघात सहन-डांस मच्छर आदि के सब उपद्रव सहन करना, 6. नग्नत्व-सहन-नग्न रहकर विकारी भाव नहीं लाना, 7. अरतिजय-अप्रीति को सहन करना, 8. स्त्री परीषहजय-स्त्रियों के द्वारा किये हुए हाव-भाव आदि उपद्रवों के होते हुए निर्विकार रहना, 9. चर्या-पैदल चलने का दुःख सहन करना, 10. निषद्या-बहुत देर तक एक ही आसन से बैठने का दुःख सहन करना, 11. शय्या-कंकरीली-पथरीली शय्या पर शयन करने का दुःख सहन करना, 12. आक्रोश जय-अनिष्ट वचनों को सहन करना, 13. वध सहन-मारपीट आदि का दुःख सहन करना, 14. याचन सहन-याचना नहीं करना, 15. अलाभ सहन-आहार आदि में अंतराय आने पर दुःख नहीं करना, 16. रोग सहन-रोगों की पीड़ा सहन करना, 17. तृणस्पर्शन सहन-काँट आदि का दुःख सहन करना, 18. मलसहन-लोचसहन-शरीर पर लगे हुए मल का सहन करना तथा केशलोच का दुःख उठाना, 19. सत्कार पुरस्कार-पूजा न करने और सन्मानपूर्वक अग्रासन न देने का दुःख सहन करना, 20. प्रज्ञा परीषहजय-ज्ञान का गर्व दूर करना, 21. अज्ञान परीषहजय-यह अज्ञानी है, इस प्रकार के वचनों का सहन करना, और 22. अदर्शन परीषहजय-ऋषि आदि के न होने पर भी गृहीत मार्ग के प्रति अश्रद्धा न होने देना। जैसा कि उमास्वामी महाराज ने कहा है-

क्षत्-क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश-वध, याचना, अलाभ, रोग, तृण स्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषह हैं। अकसाया-जिन दीक्षा कषाय से रहित होती है। इसके सिवाय पापारंभ विमुक्का-सेवा, कृषि तथा व्यापार आदि पाप के आरंभ से रहित होती है। इस विशेषण से द्राविड-संघ जैनाभास जो यह कहते हैं कि-

बीएसु-बीजों में जीव नहीं हैं, खड़े होकर भोजन करना आवश्यक नहीं है, प्रासुक का विकल्प नहीं है, सावद्य-पापपूर्ण क्रिया के त्याग को धर्म नहीं मानते, गृह कार्यों में जो आर्तध्यान होता है वह नहीं गिना जाता, इसका निराकरण हो जाता है।

कच्छं-द्राविड संघीय जैनाभास कछवाड़ा, खेत, वसतिका तथा व्यापार करारकर जीवित रहते हैं, ठण्डे पानी में नहाते हैं, इस तरह प्रचुर पाप का संचय करते हैं।

धणधणवत्थदाणं हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइं।

कुद्दाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया।।46।।

गाथार्थ-धन-धान्य तथा वस्त्र का दान, चाँदी-सोना आदि का सिक्का तथा शय्या आसन और छत्र आदि खोटी वस्तुओं के दान से जो रहित है, ऐसी दीक्षा कही गई है।

विशेषार्थ-गाय आदि को धन कहते हैं, गेहूँ आदि को धान्य कहते हैं, पाट आदि के वस्त्र को वस्त्र कहते हैं, मुनि इनका दान नहीं करते हैं। चाँदी से बना सिक्का, सुवर्ण से बना सिक्का, ताँबा और चाँदी के मेल से बना सिक्का और केवल ताँबा आदि से बना सिक्का हिरण्य कहलाता है, मुनि इनका दान नहीं करते हैं। आठ लकड़ियों को सलाकर बनाई हुई खाट तथा पलंग को शय्या कहते हैं, मुनि इसका दान नहीं करते हैं। पीठ तथा आदि शब्द से पाटला आदि को आसन कहते हैं। घाम से रक्षा करने वाला छत्र तथा आदि शब्द से ध्वजा और चामर आदि का दान मुनि नहीं देते हैं। इस प्रकार जो उपर्युक्त खोटी वस्तुओं के नाना प्रकार के दान से रहित है, वह दीक्षा है, ऐसा श्री गौतम स्वामी तथा तीर्थकर वीर भगवान् ने कहा है। इस कथन से जो अनंत सरस्वती, नरसिंह, भारती और वासुदेव सरस्वती आदि संन्यासी होते हुए भी कुत्सित दान देते हैं उनके मत का निराकरण हो जाता है।

सत्तूमित्ते व समा पसंसणिंदा अलद्धिलद्धिसमा।

तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया।।47।।

गाथार्थ-जो शत्रु और मित्र में सम है, प्रशंसा, निंदा, अलाभ और लाभ में सम है तथा तृण और सुवर्ण में समभाव रखती है, ऐसी दीक्षा कही गई है।

विशेषार्थ-शत्रु और मित्र में जो सम है अर्थात् राग-द्वेष से रहित है, प्रशंसा अर्थात् गुणों की स्तुति, निंदा अर्थात् अवर्णवाद-मिथ्यादोष कहना, लब्धि निरंतराय भोजन होना और अलब्धि अर्थात् भोजन आदि में अंतराय हो जाना इनमें जो सम है तथा तृण और सुवर्ण में जो समभाव है-अनादर और आदर से रहित है, ऐसी जिन दीक्षा प्राचीन आचार्यों के द्वारा कही गई है।

उत्तममज्झिमगेहे दारिहे ईसरे णिरावेक्खा।

सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया।।48।।

गाथार्थ-जो उत्तम मध्यम घरों एवं निर्धन और धनवान् के विषय में निरपेक्ष है तथा जिसमें समस्त योग्य घरों में आहार ग्रहण किया जाता है ऐसी दीक्षा कही गई है।

विशेषार्थ-ऊँचे तोरण आदि से सहित राजमहल उत्तमगृह कहलाते हैं और

तृण तथा पत्ते आदि से निर्मित गृह नीचगृह कहलाते हैं। बीच के मध्य गृह हैं जो दीक्षा इनके विषय में निरपेक्ष रहती है अर्थात् साधु ऐसा विकल्प नहीं करता है कि मैं भिक्षा के लिए उच्च गृह में जाता हूँ और नीच गृह में प्रवेश नहीं करता हूँ। जो दीक्षा दारिद्र्य और धन-संपन्नता के विषय में निरपेक्ष रहती है अर्थात् कभी ऐसा अभिप्राय नहीं रखती है कि मैं भिक्षा के लिए दरिद्र-निर्धन के घर में प्रवेश नहीं करूँ और ईश्वर-धनाढ्य के घर में प्रवेश करूँ, जो समस्त योग्य गृहों में आहार करती है वह प्रव्रज्या-दीक्षा है।

गायकस्य तलारस्य नीचकर्मोपजीविनः।

मालिकस्य विलिङ्गस्य वेश्यायास्तैलिकस्य च॥११॥

दीनस्य सूतिकायाश्च छिम्पकस्य विशेषतः।

मद्यविक्रयिणो मद्यपायिसंसर्गिणश्च॥१२॥

प्रश्न-वह अयोग्य गृह कौन है जिनमें भिक्षा नहीं ली जाती है?

उत्तर-गायक गाने बजाने वाले गंधर्व, तलार-कोटवार, नीच कर्मोपजीवी, चमड़े की मशक से जल भरने वाले, मालिक-फूलों का काम करने वाले, विलिंग-भरट-भाड़ चलाने वाले, वेश्या और तैलिक-तेली के घर मुनि भिक्षा ग्रहण नहीं करते हैं।

दीनस्य-दीन जो श्रावक होकर भी दीन भाषण करता है, सूतिका जो बालकों को जन्म कराती है, छिंपक-जो कपड़े छापता है, मद्यविक्रयी-जो मदिरा बेचता है और मद्यपायीसंसर्गी-जो मदिरा पीने वालों के साथ संसर्ग रखता है, उसके घर खासकर साधु आहार नहीं लेते हैं।

कोलिको मालिकश्चैव कुम्भकारस्तिलंतुदः।

नापितश्चेति विज्ञेयाः पञ्चैते पञ्चकारवः॥१३॥

रजकस्तक्षकश्चैव अयः सुवर्णकारकः।

दूषत्कारादयश्चेति कारवो बहवः स्मृताः॥१४॥

क्रियते भोजनं गेहे यतिना मोक्तुमिच्छुना।

एवमादिकमप्यन्यच्चिन्तनीयं स्वचेतसा॥१५॥

वरं स्वहस्तेन कृतः पाको नान्यत्र दुर्दृशाम्।

मन्दिरे भोजनं यस्मात् सर्वसावद्यसंगमः॥१६॥

गिगंग्था गिस्संगा गिम्माणासा अराय गिहोसा।

गिम्मम गिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया।।49।।

कोलिको-कोलिक-कपड़ा बुनने वाला-जुलाहा मालाकार, कुंभकार, तेली और नाई ये पाँच स्पृश्य कारु कहलाते हैं।

रजकस्-धोबी, बढ़ई, लोहार, सुनार और सिलावट इत्यादि बहुत से कारु माने गये हैं।

क्रियते-मोक्ष का अभिलाषी मुनि इनके घर भोजन नहीं करता है। इन्हीं के समान अन्य लोगों का भी अपने मन से विचार कर लेना चाहिए।

वरं स्वहस्तेन-अपने हाथ से रसोई पका लेना अच्छा है परन्तु मिथ्यादृष्टियों के घर भोजन करना अच्छा नहीं है क्योंकि उससे समस्त सावद्यों पापों का संगम होता है।

गाथार्थ-जो निर्ग्रथ हो-परिग्रह से रहित हो अथवा निर्ग्रथ हो नि-अतिशयपूर्ण ग्रंथों से सहित हो, निःसङ्ग हो-स्त्री आदि के संपर्क से रहित हो अथवा निश्चितशोभमान बारह अंगों से सहित हो अथवा निश्चित आठ अंगों और उपांगों से सहित हो, निर्माणाशा हो-निर्माणा-आठ में से रहित हो तथा निराशा आशा से रहित हो अथवा निरश्वा-घोड़ा हाथी बैल आदि के वाहन से रहित हो, अरागा-राग रहित हो अथवा अराजा-राजा आदि के साथ स्नेह से रहित हो, निर्दोषा हो-द्वेष से रहित हो अथवा वात-पित्तादि दोषों से रहित हो, निर्मम हो-ममता भाव से रहित हो अथवा म-तीन मकार और मा-लक्ष्मी से रहित हो और निरहंकारा-अहंकार से रहित हो अथवा निष्पाप होकर निज शुद्ध स्वरूप के निकट हो-उसमें लीन हो वह दीक्षा कही गई है।

विशेषार्थ-प्राकृत के 'गिगंग्था' शब्द की संस्कृत छाया निर्ग्रथा अथवा निर्ग्रथा होती है अतः दोनों रूपों को दृष्टि में रखकर अर्थ किया गया है कि जो ग्रंथेभ्यो निर्गता अर्थात् परिग्रहों से रहित हो अथवा नि-नितरां-अतिशय पूर्ण ग्रंथो-शास्त्रों से सहित हो (नितरा अतिशय पूर्णाः ग्रंथाः शास्त्राणि यस्यां सा)। प्राकृत के 'गिस्संगा' शब्द की निस्सङ्गा, निःस्वङ्गा अथवा निःस्वाङ्गा छाया है उसी के आधार पर उसका अर्थ है कि जो निस्सङ्गा-स्त्री आदि के संसर्ग से रहित हो अथवा निश्चित उत्तम अंगों-द्वादशांगों से सहित हो-जिसमें द्वादशांगों का पठन-पाठन होता हो (निश्चितानि सुष्ठु-शोभनानि अंगानिद्वादशांगानि यस्यां सा) अथवा शरीर के निश्चित आठ अंगों और उपांगों से

सहित हो (निश्चितानि स्वस्य-स्वशरीरस्य अङ्गानि यस्यां सा)। दीक्षा कौन ले सकता है? इसका वर्णन आचारसार में श्री वीरनंदी आचार्य ने इस प्रकार किया है-

प्राज्ञेन ज्ञातलोकव्यवहृतिमतिना तेन मोहोज्झितेन।

प्राग्विज्ञातः सुदेशो द्विजनृपतिवणिग्वर्णं वर्ण्योऽङ्गपूर्णः॥

प्राज्ञेन-लोक व्यवहार और लोक-बुद्धि के ज्ञाता, निर्मोह आचार्य जिसे पहले से जानते हो, जो उत्तम देश का रहने वाला हो, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण में से किसी वर्ण का हो, अंगों से पूर्ण हो-विकलांग अथवा अधिकांग न हो, राजा का अपराधी न हो, स्वजन और परिजन के लोगों ने जिसे छोड़ दिया हो-दीक्षा लेने की अनुमति दे दी हो, मोह रहित हो, चिंता तथा अपस्मार (मूर्च्छा विशेष) आदि रोगों से रहित हो। अब वे आठ अंग कौन है जिनकी पूर्णता साधु को आवश्यक है। इसका उत्तर देते हैं-

णलया बाहू य तहा णियंबपुट्टी उरं च सीसं च।

अट्टेव दु अंगाइं सेस उवंगाइ देहस्स।।

कुरूपिणो हीनाधिकाङ्गस्य कुष्ठादिरोगिणश्च प्रव्रज्या न भवति।

(णिग्माणासा) निर्माणा अष्टमद रहिता, निराशा आशा रहिता।

णलया-दो पैर, दो भुजा, नितम्ब, पृष्ठ, छाती और शिर ये शरीर के आठ अंग हैं और शेष उपांग कहलाते हैं।

कुरूपी, हीनांग, अधिकांग और कुष्ठादि रोग से युक्त मनुष्य की दीक्षा नहीं होती है।

प्राकृत के 'णिग्माणासा' शब्द की निर्माणाशा और निर्माणाश्वा ये दो संस्कृत छाया होती हैं अतः दोनों को दृष्टि में रखते हुए अर्थ किया गया है कि जो निर्माणा-आठ मद से रहित हो और निराशा-तृष्णा से रहित हो (मानश्च आशा च मानाशे, निर्गते मानाशे यस्याः सा निर्माणाशा)। आशा बहुत दुःखदायी है जैसा कि कहा गया है-

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।

कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता॥

आशागर्त-प्रत्येक प्राणी के सामने ऐसा आशा रूपी गड्ढा खुदा हुआ है जिसमें समस्त संसार अणु के समान है। फिर किसके लिए कितना प्राप्त हो सकता है? अर्थात् सबकी मनोऽभिलाषा पूर्ण नहीं हो सकती, इसलिये हे संसारी प्राणियों! तुम्हारी

विषयों की इच्छा करना व्यर्थ है।

और भी कहा है-

आशा दासीकृता येन तेन दासीकृतं जगत्।

आशाया यो भवेद्दासः स दासः सर्वदेहिनाम्॥

आशा-जिसने आशा को दास बना लिया उसने संसार को दास बना लिया और जो आशा का दास है, वह सब प्राणियों का दास है।

‘निर्मानाश्वा’ छाया के पक्ष में अर्थ इस प्रकार है कि जो निर्माना-आठ मद से रहित हो तथा निरश्वा-अश्व आदि से रहित हो। यहाँ अश्व शब्द हाथी तथा बैल आदि का उपलक्षण है। दिगम्बर साधु दीक्षा इन घोड़ा-हाथी आदि वाहनों के परिकर से रहित होती है।

‘अराय’ इस प्राकृत शब्द की संस्कृत छाया अरागा और अराजा होती है। ‘अरागा’ का अर्थ है जो राग से रहित हो और ‘अराजा’ का अर्थ है जो राजा से रहित हो। साधु दीक्षा में राजाओं के साथ स्नेह नहीं करना चाहिए। यहाँ राजा शब्द उपलक्षण है इसलिये मंत्री आदि का भी ग्रहण समझना चाहिए। साधुओं के लिए राजा तथा मंत्री आदि का संपर्क प्रत्यक्ष नरकपात के समान बतलाया गया है। कोई लोग जिनधर्म की प्रभावना के लिए तथा मुनियों की अच्छी स्थिति बनी रहे इस उद्देश्य से इसका निषेध नहीं करते हैं। क्योंकि म्लेच्छ आदि के द्वारा मुनियों को पीड़ा पहुँचाई जाने पर उसके निराकरण करने के लिए राजा तथा मंत्री आदि का संपर्क आवश्यक होता है।

‘णिद्वेष’ प्राकृत शब्द की संस्कृत छाया निर्द्वेषा और निर्दोषा होती है जिनका अर्थ इस प्रकार है-जो निर्द्वेषा-अप्रीति रूप द्वेष से रहित हो अथवा निर्दोषा-वात पित्त कफ आदि दोषों से रहित हो।

‘णिम्मम’ प्राकृत शब्द की छाया निर्ममा है जिसकी व्याख्या इस प्रकार है ‘मम’ यह ममता वाची अव्यय शब्द है (निर्गतं मम यस्या सा निर्ममा) जिसमें से मम-ममता भाव निकल गया हो वह निर्ममा है। जिन-दीक्षा में किसी बाह्य पदार्थ के साथ ममता नहीं रहती है अथवा नाम के एक देश से सर्व-देश का ग्रहण होता है इसलिये ‘म’ से मद्य-माँस और मधु इन तीनों मकारों का ग्रहण होता है और ‘मा’ का अर्थ लक्ष्मी है इसलिये म और मा शब्द का द्वंद्व समास कर निर् शब्द के साथ बहुव्रीहि समास करने

पर निर्ममा का अर्थ होता है कि जो तीन मकार के सेवन तथा लक्ष्मी के स्वीकार से रहित हो (मश्च मा च ममे, निगते म मे यम्याः सा निर्ममा)। जिन दीक्षा में रञ्जमात्र लक्ष्मी का स्वीकार करना सर्वथा निषिद्ध है। जैसा कि कहा है-

अकिञ्चनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।

योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः॥१॥

अकिञ्चनोऽह- 'मैं अकिञ्चन हूँ'-मेरा कुछ परिग्रह नहीं, ऐसी भावना करता हुआ तू चुपचाप बैठ। इस भावना से तू तीन लोक का अधिपति बन सकता है। हे साधो! मैंने तेरे लिए परमात्मा का वह रहस्य बतलाया है जिसे योगी ही जान सकते हैं।

'णिरहंकारा' इस प्राकृत पद की छाया 'निरहङ्कारा' और 'निरघं कारात्' की है इसलिये इसका अर्थ इस प्रकार है जो निरहङ्कारा-अहंकार से रहित है। जिन-दीक्षा कर्मोदय को प्रधान मानती है अर्थात् जीव को जो सुख अथवा दुःख होता है वह कर्मोदय से ही होता है इसलिये 'मैंने यह किया' इस प्रकार का अहंकार नहीं करना चाहिए। जैसा कि तार्किक शिरोमणि श्री समंतभद्राचार्य ने कहा है-

अलङ्घ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा।

अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्वस्वादि॥१॥

अलङ्घ्य-अंतरंग और बहिरंग-उपादान और निमित्त दोनों कारणों से प्रगट हुए कार्य ही जिसकी पहिचान है, ऐसी यह भवितव्यता-होनहार अलङ्घ्यशक्ति है, इसकी सामर्थ्य को कोई लाँघ नहीं सकता है। अहंकार से पीड़ित हुआ यह प्राणी मिलकर भी कार्यों के विषय में असमर्थ रहता है-जब तक जिस कार्य की भवितव्यता नहीं आ पहुँची है तब तक यह प्राणी अकेला नहीं अनेक के साथ मिलकर भी कार्य करने में असमर्थ ही रहता है। हे भगवन्! ऐसा आपने ठीक ही कहा है।

प्रश्न-'संहत्य कार्येषु' इस पद का क्या अर्थ है?

उत्तर-सुख आदि कार्यों के उत्पादक मंत्र-तंत्र आदि सहकारी कारणों में मिलकर।

अब 'निरघं कारात्' छाया के अनुसार व्याख्या करते हैं। प्राकृत में 'घ' के स्थान में 'ह' हो जाता है इसलिये 'णिरहं' की छाया 'निरघं' की गई है और कारात् शब्द के अंत हलका प्राकृत में लोप कर कारा शब्द बना था उसे संस्कृत में 'कारात्'

स्वीकृत किया गया। इस तरह निरघं और कारात् ये दो शब्द है इनमें निरघं शब्द क्रिया-विशेषण है जिसका अर्थ होता है निरघं अर्थात् निष्पाप। 'क' शब्द का अर्थ है शुद्ध-बुद्ध-वीतराग और सर्वज्ञता स्वभाव को लिए हुए निज आत्मा का स्वरूप। आरात् अव्यय समीप अर्थ में आता है इसलिये 'कस्य आरात् कारात्' इस समास के अनुसार कारात् का अर्थ हुआ आत्मस्वरूप के समीपवर्ती। इस तरह निरघं कारात् शब्द का सामूहिक अर्थ यह हुआ कि जो समस्त पाप सहित योगों का त्यागकर आत्मस्वरूप के निकट है अर्थात् आत्मस्वरूप की प्राप्ति का प्रमुख कारण है। जिनदीक्षा, चिच्चमत्कार लक्षण मात्र ज्ञायक स्वभाव से निरंतर युक्त निजस्वरूप में लीन होती है। शास्त्रों में ऐसा कहा भी है कि 'पापक्रिया से विरत होना चारित्र है' गौतम स्वामी ने जिन-दीक्षा का स्वरूप ऐसा कहा है।

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्विघार णिक्कलुसा।

णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया।।50।।

गाथार्थ-जो स्नेह रहित हो, लोभ रहित हो, मोह रहित हो अथवा निश्चित प्रमाण के तर्क से सहित हो, विकार रहित हो अथवा निश्चित विचार से सहित हो, कलुषता रहित हो, निर्भय हो और निराश भाव से सहित हो, आगामी आशा से रहित हो वह जिनदीक्षा कही गई है।

विशेषार्थ-स्नेह का अर्थ पुत्र-स्त्री तथा मित्र आदि का प्रेम और तैल आदि का मर्दन है। जिनदीक्षा निःस्नेह होती है-पुत्र, स्त्री, मित्र आदि के स्नेह से रहित होती है अथवा तेल आदि सचिक्रण पदार्थों के मालिश से शून्य होती है। जिनदीक्षा निर्लोभ-लोभ रहित होती है अर्थात् हे मुनिराज! हे तपस्विन्! मैं तुम्हारे लिए यह वस्त्रादिक दूँगा आप हमारे घर पर भिक्षा ग्रहण कीजिये, इस प्रकार के लोभ से रहित है अथवा सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, राँगा आदि के पात्रों से हित होने के कारण निर्लोभ है। जिनदीक्षा निर्मोह है-मोह से रहित है। दर्शन-मोह को मिथ्यात्व कहते हैं उसके गृहीत अगृहीत और सांशयिक के भेद से तीन भेद हैं अथवा मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति के भेद से तीन भेद हैं। चारित्र मोह पच्चीस प्रकार का है जिनदीक्षा दोनों प्रकार के मोहों से रहित है अथवा 'निश्चिता मा निमा, तस्या ऊहो यस्यां सा निमोहा' इस समास के अनुसार अकलंक देव समंतभद्र, विद्यानंदी और प्रभाचंद्र आदि तार्किक विद्वानों के द्वारा निर्धारित प्रत्यक्ष परोक्ष भेदों से युक्त दोनों प्रमाणों के

ऊह-वितर्क अथवा विचारणा से सहित है। निर्विकार है-वस्त्र आभूषण आदि से निर्मित वेष के विकार से रहित है अथवा 'निश्चितो विचारो यस्यां सा' इस समास के अनुसार निश्चित विचार-विवेक अथवा भेदज्ञान सहित है। क्योंकि जिनदीक्षा 'आत्मा पृथक् है और कर्म पृथक् है।' इस विवेक से सहित होती है। कहा भी है-

मानुष्यं सत्कुले जन्म लक्ष्मीर्बुद्धिः कृतज्ञता।

विवेकेन विना सर्व सदप्येतन्न किंचन॥१॥

आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत्कर्म भिन्नं तयोर्या

प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः सापि भिन्ना तथैव।

कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे।

भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालंकृतं सर्वमेतत्॥१॥

मानुष्यं-मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल में जन्म, लक्ष्मी, बुद्धि और कृतज्ञता ये सब रहते हुए भी एक विवेक के बिना कुछ नहीं है।

आत्मा-आत्मा भिन्न है, उसके साथ लगा हुआ कर्म भिन्न है, दोनों की निकटता से जो विकार होता है वह भी भिन्न है, काल-क्षेत्र आदि जो कुछ है वह भी भिन्न है तथा अपने-अपने गुणों की कला से अलंकृत यह सब कुछ भिन्न-भिन्न है।

जिनदीक्षा निष्कलुष है- पाप से रहित है। निर्भय है। निर्भय है-ऐहलौकिक, पारलौकिक, वेदना, मरण, अत्राण, अगुप्ति और आकस्मिक इन सात भयों से रहित है और निराश भाव-आशा रहित स्वभाव से युक्त है। इस प्रकार भगवान् वृषभनाथ ने जिनदीक्षा का स्वरूप कहा है।

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुअ णिराउहा संता।

परकियणिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया॥५१॥

संन्यस्ताभ्यामघोऽहिभ्यामूर्वीरुपरि युक्तितः।

भवेच्च समगुल्फाभ्यां पद्मवीरसुखासनं॥१॥

जहजाय-गाथार्थ-जो तत्काल उत्पन्न हुए बालक के समान नग्न सहित रूप से है, जिसमें भुजाएँ नीचे की ओर लटकी रहती हैं, जो शस्त्र से रहित है अथवा प्रासुक प्रदेशों पर जिसमें गमन किया जाता है, जो शांत है तथा दूसरे के द्वारा बनाये हुए उपाश्रय में जिसमें निवास किया जाता है, वह जिनदीक्षा कही गई है।

विशेषार्थ-जिस प्रकार तत्काल का उत्पन्न हुआ बालक निर्विकार और नग्न

रहता है उसी प्रकार जिनदीक्षा में निर्विकार नग्न रूप धारण किया जाता है। जिनदीक्षा में भुजाएँ नीचे की ओर लटकी रहती है अर्थात् ध्यान के लिए प्रायः कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ा हुआ जाता है और पद्मासन आदि आसनों से भी बैठा जाता है।

प्रश्न-पद्मासन क्या है?

उत्तर-संन्यस्ताभ्यां पैरों को जाँघों के नीचे रखने पर पद्मासन, जाँघों के ऊपर रखने पर वीरासन और उस तरह मिलाकर रखने पर जिसमें कि दोनों की गाँठें समभाग रहे सुखासन होता है।

उनमें सुखासन का यह लक्षण है-

गुल्फोत्तानकरांगुष्ठरेखारोमालिनासिकाः।

समदृष्टिः समाः कुर्यान्नातिस्तब्धो न वामनः॥११॥

गुल्फोत्तान-सुखासन से बैठा हुआ मनुष्य न ज्यादा तानकर बैठे और न ज्यादा झुककर। किन्तु समदृष्टि होता हुआ पैरों की गाँठों पर रखे हुए उत्तान (चित्त) हाथ के अँगूठे की रेखाओं को नाभि के नीचे स्थित रोमावली को और नासिका को सम रखे अर्थात् हाथ के अँगूठे को वक्र न करे, अधिक झुककर रोमावली को वक्र न करे और न ऊपर-नीचे तथा आजू-बाजू देखकर नासिका को विषम करे।

जिनदीक्षा निरायुधा होती है-दण्ड आदि आयुधों से रहित होती है अथवा निरायुर्हा संस्कृत छाया मानकर यह अर्थ भी हो सकता है कि जिनदीक्षा निरायुः-निर्जीव-प्रासुक स्थानों पर ही गमन करती है। संस्कृत व्याकरण में 'हन्' धातु का हिंसा और गति इन दोनों अर्थों में प्रयोग होता है। जिनदीक्षा शांत है-क्रूर स्वभाव से रहित है और जिनदीक्षा में किसी दूसरे के द्वारा बनाये हुए उपाश्रय में निवास किया जाता है। जिस प्रकार सर्प अपना बिल स्वयं नहीं बनाता, अपने आप बने हुए अथवा किसी के द्वारा बनाये हुए बिल में निवास करता है उसी प्रकार जिनदीक्षा का धारक साधु अपना उपाश्रय स्वयं न बनाकर पर्वत की गुफा तथा वृक्ष की कोटर आदि अपने आप बने हुए अथवा किसी अन्य धर्मात्मा के द्वारा बनवाये हुए मठ आदि में निवास करता है। प्रियकारिणी के पुत्र भगवान् महावीर ने जिनदीक्षा का स्वरूप ऐसा कहा है।

उवसमखमदमजुत्ता सरीरसक्कारवज्जिया रुक्खा।

मयरायदोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया॥५२॥

आकृष्टोऽहं हतो नैव हतो वा न द्विधाकृतः।

मारितो न हतो धर्मो मदीयोऽनेन बन्धुना॥११॥

गाथार्थ-जो उपशम, क्षमा और दम से सहित है, शरीर के संस्कार से रहित है, रुक्ष है और मद, राग, द्वेष अथवा दोषों से रहित है, वह जिनदीक्षा कही गई है।

विशेषार्थ-जिनदीक्षा, उपशम अर्थात् कर्मों के क्षय, निर्जरा, संवर अथवा दया रूप परिणाम तथा उत्तम क्षमा से युक्त है। जैसा कि शुभचन्द्र योगी ने कहा है-

आकृष्टोऽहं-किसी दूसरे के द्वारा उपसर्ग किये जाने पर मुनिराज इस प्रकार विचार करते हैं कि इस भाई ने मुझे खींचा ही तो है मारा नहीं है अथवा मारा ही तो है मेरे दो टुकड़े तो नहीं किये अथवा दो टुकड़े कर मारा ही तो है मेरा धर्म तो नहीं नष्ट किया।

दम का अर्थ इन्द्रियों को जीतना अथवा व्रत धारण करना है। जिनदीक्षा दम से सहित है-इन्द्रियों को जीतने वाली अथवा अहिंसा आदि व्रतों से युक्त है। जिनदीक्षा, शरीर के संस्कार से रहित है अर्थात् दंत, नख, केश और मुख आदि अवयवों की सजावट से रहित है। तेल आदि के मर्दन से रहित होने के कारण रुक्ष है, मद अथवा माया से रहित है, अप्रीति रूप द्वेष से रहित है अथवा व्रत आदि में अतिचार लगाने रूप दोष से रहित है। राजा सिद्धार्थ के पुत्र-भगवान् महावीर ने जिनदीक्षा का ऐसा स्वरूप कहा है।

विचरीयमूढभावा पण्डुकम्मट्ट णट्टमिच्छता।

समत्तगुणविसुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया॥१५३॥

गाथार्थ-जिसमें मूढ़ताएँ नष्ट हो चुकती हैं, जिसमें आठ कर्म नष्ट हो जाते हैं, जिसमें मिथ्यात्व नष्ट हो चुकता है और जो सम्यक्त्व रूप गुण से विशुद्ध है, वह जिनदीक्षा कही गई है।

विशेषार्थ-जिनदीक्षा में मूढ़भाव-जड़ता विशेष रूप से नष्ट हो चुकती है, ज्ञानावरणादि आठ कर्म नष्ट हो जाते हैं और एकांत आदि पाँच प्रकार का थियात्व नष्ट हो चुकता है।

जिनदीक्षा सम्यक्त्व रूप गुण से विशुद्ध रहती है अथवा सम्यग्दर्शन के निःशंकित निःकांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन आठ गुणों के द्वारा विशुद्ध-विशेष रूप से निर्मल होती है। तीन मूढ़ता, छह अनायतन, शंकादि आठ दोष और आठ मद इन पच्चीस दोषों से रहित होने से विशुद्ध

है। चौबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी ने जिनदीक्षा का इस प्रकार स्वरूप बतलाया है।

जिणमग्गे पव्वज्जा छहसंघयणेसु भणिय णिग्गंथा।

भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया।।54।।

गाथार्थ—अरहंत भगवान् के शासन में जिनदीक्षा छहों संहननों में कही गई है। जिनदीक्षा निर्ग्रंथ है-परिग्रह-रहित है और कर्मक्षय के कारणों में कही गई है, ऐसा भव्य पुरुष चिंतन करते हैं।

विशेषार्थ—जिनमार्ग-अरहंत भगवान् के शासन में जिनदीक्षा वज्रर्षभनाराच, बज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक और असंप्राप्तासृपाटिका इन छह संहननों के धारक जीवों के कही गई है। क्योंकि इस क्षेत्र में पञ्चम काल के अंत में जो वीराङ्ग नाम का अंतिम निर्ग्रंथ मुनि होगा वह असंप्राप्तासृपाटिका संहनन का धारी होगा इससे छठे संहनन में भी निर्ग्रंथ-दीक्षा होती है, यह जानना चाहिए। जिनदीक्षा निर्ग्रंथ होती है समस्त परिग्रहों से रहित होती है तथा कर्मक्षय कारणों में कही गई है अर्थात् जिनदीक्षा परंपरा से मोक्ष प्राप्ति निमित्त है, ऐसा निकट-भव्य जीव मानते हैं।

तिलओसत्तनिमित्तं समवाहिरगंथसंगहो णत्थि।

पावज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरिसीहिं।।55।।

गाथार्थ—जिसमें तिल तुष के अग्र भाग के बराबर भी बाह्य परिग्रह का संग्रह नहीं है वही जिनदीक्षा है, ऐसा सर्वदर्शी जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

विशेषार्थ—तिल का दाना अत्यंत छोटा होता है उसके तुष के अग्र भाग के बराबर भी बाह्य परिग्रह का संग्रह मुनि के नहीं होता है ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है।

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च अत्थेइ।

सिल कट्टे भूमितले सव्वे आरुहइ सव्वत्थि।।56।।

गाथार्थ—जिनदीक्षा उपसर्ग और परीषहों को सहन करती है, इसके धारक निरंतर निर्जन स्थान में रहते हैं तथा सर्वत्र शिला, काष्ठ अथवा भूमितल पर आरूढ़ होते हैं-बैठते अथवा शयन करते हैं।

विशेषार्थ—तिर्यच, मनुष्य, देव और अचेतन पदार्थों से उत्पन्न होने के कारण उपसर्ग के चार भेद हैं। परीषह के बाईस भेद पहले कहे जा चुके हैं। जिनदीक्षा उन उपसर्ग और परीषहों के सहन करने में समर्थ है। जिनदीक्षा-जिनदीक्षा के धारक मुनि

निश्चय से निरंतर निर्जन देश मनुष्य रहित वन में रहते हैं और सर्वत्र शिला काठ के पाटे, भूमितल अथवा तृण-समूह पर आरूढ़ होते हैं-बैठते हैं तथा शयन करते हैं। यहाँ सव्वत्थ (सर्वत्र) शब्द से सूचित होता है कि मुनियों का निवास वन अथवा ग्राम नगर आदि में भी होता है।

पसुमहिलसंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ।

सङ्गायझाणजुत्ता पव्वजा एरिसा भणिया॥57॥

गाथार्थ-जो पशुओं, महिलाओं, नपुंसकों और कुशील मनुष्यों का संग नहीं करती है, विकथाएँ नहीं करती है तथा स्वाध्याय और ध्यान में युक्त रहती है वह जिनदीक्षा कही गई है।

विशेषार्थ-जिसमें, जहाँ पशु होते हैं वहाँ नहीं बैठा जाता है, जहाँ स्त्रियाँ तथा नपुंसक रहते हैं वहाँ भी नहीं बैठा जाता है, छोटे आचार के धारक अथवा मुनिजनों की शिक्षा से पराङ्मुख मनुष्य की संगति नहीं की जाती है क्योंकि उसकी संगति में खोटा ध्यान उत्पन्न होता है। जिसमें राजकथा, स्त्रीकथा, भोजनकथा और चोरकथा ये विकथाएँ नहीं की जाती हैं और जो वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्राय और धर्मोपदेश इन पाँच प्रकार के स्वाध्याय से युक्त रहती हैं तथा धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान इन दो ध्यानों से सहित एवं आर्त और रौद्र इन दो खोटे ध्यानों से रहित होती है वह जिन दीक्षा है, ऐसा अकलङ्क देव-वीतराग जिनेन्द्र देव ने कहा।

तववयगुणेहिं सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य।

सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वजा एरिसा भणिया॥58॥

गाथार्थ-जो तप, व्रत और गुणों से शुद्ध है, संयम और सम्यक्त्व रूपी गुणों से विशुद्ध है और मूलगुणों से निर्दोष है वही शुद्ध दीक्षा कही गई है।

विशेषार्थ-इच्छा-निरोध रूप लक्षण से युक्त तप के अनशन-अवमौदर्य आदि बारह भेद हैं, व्रत के अहिंसा आदि पाँच और रात्रि भोजन त्याग नाम का छठवाँ इस प्रकार छह भेद हैं, गुणों के चौरासी लाख भेद हैं। संयम के छह इन्द्रिय-संयम और छह प्राण-संयम इस प्रकार बारह भेद हैं। सम्यक्त्व के दश, दो अथवा तीन भेद हैं। निसर्गज और अधिगमज की अपेक्षा सम्यक्त्व दो प्रकार का है। उपशम, वेदक और क्षायिक के भेद से तीन प्रकार का है तथा 'आज्ञामार्ग' इस आर्या में कहे हुए 1. आज्ञासमुद्भव, 2. मार्गसमुद्भव, 3. उपदेशभव, 4. सूत्रभव, 5. बीजभव, 6. संक्षेपभव,

7. विस्तारभव, 8. अर्थभव, 9. अवगाढ और 10. परमावगाढ के भेद से दश प्रकार का है। इन दश भेदों के स्वरूप का वर्णन करने वाले तीन पद्य इस प्रकार हैं-

“आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्।

विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च”

इत्यार्याकथिताः सम्यक्त्वस्य दशप्रकारा ज्ञातव्याः। तद्विवरणं वृत्तत्रयं

यथा-

आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञर्यव

त्यक्तग्रन्थप्रपंचं शिवममतपथं श्रद्धन्मोहशान्तेः।

मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता-

या सद्ज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः॥1॥

आकर्ण्यारचारसूत्रं मुनिचरणाविधेः सूचनं श्रद्धधानः

सूक्तसौ सूत्रदृष्टिर्दुर्गधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः।

कैश्चिज्जातोपलब्धेर समशमवशाद्बीजदृष्टिः पदार्थान्

सक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः॥2॥

यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरिह तं विद्धि विस्तारदृष्टिं

संजातार्थात्कुतश्चित्प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः।

दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता याऽवगाढा

कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा॥3॥

आज्ञा सम्यक्त्व-1. वीतराग सर्वज्ञ देव की आज्ञा मात्र से जो श्रद्धा होती है उसे आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं। 2. ग्रंथों के विस्तार को छोड़कर दर्शनमोह-कर्म के उपशम से आनन्ददायी मोक्षमार्ग की जो श्रद्धा होती है उसे मार्ग-सम्यक्त्व कहते हैं। 3. शलाका पुरुषों के पुराण के उपदेश से जो सम्यक्त्व होता है उसे सम्यग्ज्ञान के वर्धक आगम रूप सागर का प्रसार करने वाले मुनि उपदेश सम्यक्त्व कहते हैं। 4. मुनियों के चारित्र की विधि का वर्णन करने वाले आचार सूत्र को सुनकर जो श्रद्धा होती है उसे सूत्र सम्यक्त्व कहते हैं। 5. अनुपम प्रशम गुण के कारण किन्हीं बीजों के द्वारा दुर्ज्ञेय अर्थ की जो श्रद्धा होती है उसे बीज दृष्टि कहते हैं। 6. संक्षेप से ही पदार्थों को जानकर जो श्रद्धा को प्राप्त होता है वह संक्षेप दृष्टि है। 7. द्वादशांग को सुनकर जो श्रद्धा को प्राप्त होता है उसे विस्तार दृष्टि कहते हैं। 8. जो शास्त्र के वचन के बिना

किसी अर्थ से श्रद्धान होता है वह अर्थ सम्यक्त्व है। 9. अंग तथा अंग बाह्य शास्त्रों का अवगाहन करने से जो श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे अवगाढ सम्यक्त्व कहते हैं और 10. केवलज्ञान के द्वारा देखे हुए पदार्थों में जो श्रद्धा होती है उसे परमावगाढ सम्यक्त्व कहते हैं।

इस प्रकार जो अनशनादि बारह तपों, अहिंसा आदि छह व्रतों और चौरासी लाख उत्तर गुणों से शुद्ध है। बारह संयमों तथा दो-तीन अथवा दश प्रकार के सम्यग्दर्शन रूपी गुणों से विशुद्ध है और अट्टाईस मूलगुणों से शुद्ध है-निरतिचार है वही जिनदीक्षा है ऐसा श्री शांतिनाथ भगवान् ने कहा है। यहाँ यह भाव स्पष्ट किया गया है कि जो दीक्षा गुणों से शुद्ध है वही शुद्ध दीक्षा कहलाती है, मात्र वेष से दीक्षा शुद्ध नहीं कही जाती।

एवं आयत्तणगुणपज्जत्ता बहुविसुद्ध सम्मत्ते।

णिग्गंथे जिणमग्गे संखेवेणं जहाग्खादं॥59॥

गाथार्थ-इस प्रकार अत्यंत विशुद्ध सम्यक्त्व से युक्त मुनि में प्रव्रज्या आत्मगुणों की भावना से परिपूर्ण होती है। (कुंदकुंद स्वामी कहते हैं कि मैंने) निर्ग्रंथ जैन मार्ग के विषय में जो कहा है वह संक्षेप से ही कहा है।

विशेषार्थ-पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जो प्रव्रज्या आत्म तत्त्व के गुणों से परिपूर्ण है वही पूर्ण प्रव्रज्या है। जो प्रव्रज्या आत्म गुणों की भावना से रहित है वह परिपूर्ण नहीं होती। इसके विपरीत जो प्रव्रज्या आत्म गुणों की भावना से सहित है वह छोटी होने पर भी परिपूर्ण होती है। यह प्रव्रज्या अत्यंत विशुद्ध सम्यक्त्व से युक्त मुनि में पूर्णता को प्राप्त होती है। मिथ्यात्व से दूषित मुनि भले ही नग्न रहता हो उसकी दीक्षा दीक्षा नहीं होती क्योंकि वह संसार के विच्छेद से रहित है। यद्यपि मिथ्यादृष्टि मुनि उत्कृष्ट रूप से नवम प्रैवेयक के पद को भी प्राप्त कर लेते हैं तो भी पुनः संसार में ही पड़ते हैं ऐसा जानकर मैं बार-बार कहता हूँ कि मुनि को सम्यग्दृष्टि होना चाहिए। जैसा कि इन्हीं भगवान् कुंदकुंदाचार्य ने कहा है-

सम्मं चेव य भावे मिच्छाभावे तहेव बोद्धव्वा।

चइऊण मिच्छभावे सम्मम्मि उवट्टिदे वंदे॥1॥

सम्मं-जिस प्रकार सम्यक्त्व रूप भाव है उसी प्रकार मिथ्यात्व रूप भी भाव होते हैं। उनमें से मिथ्यात्व रूप भावों को छोड़कर जो सम्यक्त्व भाव को प्राप्त हुए हैं,

मैं उन्हें वंदना करता हूँ।

जिनमार्ग परिग्रह से रहित है-नग्न रूप है। 'वस्त्र सहित मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होता है' यह मिथ्यादृष्टियों का मार्ग है। इस जैन मार्ग में जैसा कुछ प्रव्रज्या का लक्षण मैंने कहा है वह संक्षेप से ही कहा है, ऐसा जानना चाहिए। इसका विस्तार श्री गौतम स्वामी के परमागम में जानना चाहिए।

प्रश्न-प्रव्रज्या इसका क्या अर्थ है?

उत्तर-प्रव्रज्या का अर्थ पारिव्रज्य है। उसके सत्ताईस सूत्र श्री जिनसेनाचार्य ने कहे हैं। जो इस प्रकार हैं-

जातिमूर्तिश्च तत्रस्थं लक्षणं सन्दराङ्गता।

प्रभामण्डलचक्राणि तथाभिषवनाथते।।1।।

सिंहासनोपधाने च छत्रचामरघोषणाः।

अशोकवृक्षनिधयो गृहशोभावगाहने।।2।।

क्षेत्राज्ञे तत्सभा कीर्तिर्वद्यता वाहनानि च।

भाषाहारसुखानीति जात्यादिः सप्तविंशतिः।।3।।

जात्यादिकानिमान् सप्तविंशतिं परमेष्ठिनाम्।

गुणानाहुर्भजेद्दीक्षां स्वेषु तेष्वकृतादरः।।1।।

जातिमानप्यनुत्सिक्तः संभजेदर्हतां क्रमौ।

यतो जात्यन्तरे जात्यां याति जाति चतुष्टयी।।2।।

जातिर्-जाति, मूर्ति, उसमें रहने वाले लक्षण, शरीर की सुंदरता, प्रभा, मण्डल, चक्र, अभिषेक, नाथता, सिंहासन, उपधान, छत्र, चामर, घोषणा, अशोक वृक्ष, निधि, गृहशोभा, अवगाहन, क्षेत्रज्ञ, आज्ञा, सभा, कीर्ति, वंदनीयता, वाहन, भाषा, आहार और सुख ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद कहलाते हैं।

जात्यादिका-ये जाति आदि सत्ताईस सूत्र पद परमेष्ठियों के गुण कहलाते हैं। उस भव्य पुरुष को अपने जाति आदि गुणों से आदर न करते हुए दीक्षा धारण करना चाहिए। (ये जाति आदि गुण जिस प्रकार परमेष्ठियों में होते हैं उसी प्रकार दीक्षा लेने वाले शिष्य में भी यथासंभव रूप से होते हैं परन्तु शिष्य को अपने जाति आदि गुणों का सन्मान नहीं कर परमेष्ठियों के ही जाति आदि गुणों का सन्मान करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से वह शिष्य अहंकार आदि दुर्गुणों से बचकर अपने आपका

उत्थान शीघ्र ही कर सकता है)। स्वयं उत्तम जाति वाला होने पर भी अहंकार-रहित होकर अरहंत देव के चरणों की सेवा करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से वह भव्य दूसरे जन्म में उत्पन्न होने पर दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वा इन चार उत्तम जातियों को प्राप्त होता है।

जातिरैन्द्री भवेद्दिव्या चक्रिणां विजवाश्रिता।

परमा जातिरार्हन्त्ये स्वत्मोत्था सिद्धिमीयुषाम्॥३॥

मूर्त्यादिष्वपि नेतव्या कल्पनेयं चतुष्टयी।

पुराणज्ञैरसंमोहात्कचिच्च त्रितयी मता॥४॥

कर्शयन् मूर्तिमात्मीयां रक्षन् मूर्तिः शरीरिणां।

तपोऽधितिष्ठेद्दिव्यादिमूर्तीराप्तुमना मुनिः॥५॥

स्वलक्षणमनिर्देश्यं मन्यमानो जिनेशिनां।

लक्षणान्यभिसंघाय तपस्येत्कृतलक्षणः॥६॥

म्लापयन् स्वाङ्गसौन्दर्यं मुनिरुग्रं तपश्चरेत्।

वाञ्छन् दिव्यादिसौन्दर्यमनिवार्य परं परं॥७॥

जातिरैन्द्री-इन्द्र के दिव्या जाति होती है, चक्रवर्तियों के विजयाश्रित, अरहंत देव के परमा और मोक्ष को प्राप्त हुए जीवों के अपने आत्मा से उत्पन्न होने वाली स्वा जाति होती है।

इन चारों की कल्पना मूर्ति आदि में कर लेनी चाहिए अर्थात् जिस प्रकार जाति के दिव्या आदि चार भेद हैं उसी प्रकार मूर्ति आदि के भी समझ लेना चाहिए। परन्तु पुराणों को जानने वाले आचार्य मोह रहित होने से किसी-किसी जगह तीन ही भेदों की कल्पना करते हैं अर्थात् सिद्धों में स्वा मूर्ति नहीं मानते हैं। जो मुनि दिव्य आदि मूर्तियों को प्राप्त करना चाहता है उसे अपना शरीर कृश करना चाहिए तथा अन्य जीवों के शरीरों की रक्षा करते हुए तपश्चरण करना चाहिए। इसी प्रकार अनेक लक्षण धारण करने वाला वह पुरुष अपने लक्षणों को निर्देश करने के अयोग्य मानता हुआ जिनेन्द्र देव के लक्षणों का चिन्तन कर तपश्चरण करे। जिनकी परंपरा अनिवार्य है ऐसे दिव्य आदि सौन्दर्यों की इच्छा करता हुआ वह मुनि अपने शरीर के सौन्दर्य को मलिन करता हुआ कठिन तपश्चरण करे।

मलीमसाङ्गो व्यृत्सृष्टस्वकायप्रभवप्रभः।

प्रभोः प्रभां मुनिर्ध्यायन् भवेत्क्षिप्रं प्रभास्वरं॥८॥

स्वं मणिस्नेहदीपादितेजोऽपास्य जिनं भजन्।

तेजोमयमयं योगी स्यात्तेजोवलयोज्ज्वलः॥९॥

त्यक्त्वाऽस्त्रवस्त्रशस्त्राणि प्राक्तनानि प्रशान्तभाक्।

जिनमाराध्य योगीन्द्रो धर्मचक्राधिपो भवेत्॥१०॥

त्यक्तस्नानादिसंस्कारः संश्रित्य स्नातकं जिनं।

मूर्ध्नि मेरोरवाप्रोति परं जन्माभिषेचनं॥११॥

स्वं स्वाम्यमैहिकं त्यक्त्वा परमस्वामिनं जिनं।

सेवित्वा सेवनीयत्वमेध्यत्येष जगज्जनैः॥१२॥

स्वोचितासनभेदानां त्यागात्त्यक्ताम्बरो मुनिः।

सिंह विष्टरमध्यास्य तीर्थप्रख्यापको भवेत्॥१३॥

स्वोपधानाद्यनादृत्य योऽभून्निरुपधिर्मुनिः।

शयानः स्थण्डिले बाहुमात्रार्पितशिरस्तटः॥१४॥

जिसका शरीर मलिन हो गया है, जिसने अपने शरीर से उत्पन्न होने वाली प्रभा का त्याग कर दिया है और जो अरहंत देव की प्रभा का ध्यान करता है ऐसा साधु शीघ्र ही दैदीप्यमान हो जाता है अर्थात् दिव्य-प्रभा आदि प्रभाओं को प्राप्त करता है। जो मुनि अपने मणि और तेल के दीपक आदि का तेज छोड़कर तेजोमय जिनेन्द्र भगवान् की आराधना करता है वह प्रभामण्डल से उज्ज्वल हो उठता है। जो पहले के अस्त्र, वस्त्र और शस्त्र आदि को छोड़कर अत्यंत शांत होता हुआ जिनेन्द्र भगवान् की आराधना करता है वह योगिराज धर्मचक्र का अधिपति होता है। जो मुनि स्नान आदि का संस्कार छोड़कर केवली जिनेन्द्र का आश्रय लेता है अर्थात् उनका चिन्तवन करता है वह मेरु पर्वत के मस्तक पर उत्कृष्ट जन्माभिषेक को प्राप्त होता है। जो मुनि अपने इस लोक-संबन्धी स्वामीपने को छोड़कर परम स्वामी श्री जिनेन्द्र देव की सेवा करता है वह जगत् के जीवों के द्वारा सेवनीय होता है अर्थात् जगत् के सब जीव उसकी सेवा करते हैं। जो मुनि अपने योग्य अनेक आसनों के भेदों का त्याग करके दिग्म्बर हो जाता है वह सिंहासन पर आरूढ़ होकर तीर्थ को प्रसिद्ध करने वाला अर्थात् तीर्थकर होता है। जो मुनि अपने तकिया आदि का अनादर कर परिग्रह रहित हो जाता है और केवल अपनी भुजा पर शिर का किनारा रखकर पृथिवी के ऊँचे-

नीचे प्रदेश पर शयन करता है वह महा-अभ्युदय को पाकर जिन हो जाता है। उस समय सब लोग उसका आदर-सत्कार करते हैं और वह देवों के द्वारा बने हुए दैदीप्यमान तकिया को प्राप्त हो जाता है।

स महाभ्युदयं प्राप्य जिनो भूत्वाऽऽप्तसत्क्रियः।

देवैर्विरचितं दीप्रमास्कन्दत्युपधानकं॥15॥

त्यक्तशीतातपत्राणसकलात्मपरिच्छदः।

त्रिभिश्छत्रैः समुद्भासिरत्नैरुद्भासते स्वयं॥16॥

विविधव्यजनत्यागादनुष्ठिततपोविधिः।

चामराणां चतुःषष्ट्या वीज्यते जिनपर्यये॥17॥

उज्झितानकसंगीतघोषः कृत्वा तपोविधं।

स्याद्दृष्टुदुन्दुभिनिर्घोषैर्घुष्यमाणजयोदयः॥18॥

उद्यानादिकृतां छायामपास्य स्वां तपो व्यधात्।

यतोऽयमत एवास्य स्यादशोकमहाद्रुमः॥19॥

स्वं स्वापतेयमुचितं त्यक्त्वा निर्ममतामितः।

स्वयं निधिभिरभ्येत्य सेव्यते द्वारि दूरतः॥20॥

गृहशोभां कृतारक्षां दूरीकृत्य तपस्यतः।

श्रीमण्डपादिशोभास्य स्वतोऽभ्येति पुरोगतां॥21॥

जो मुनि शीतल छत्र आदि अपने समस्त परिग्रह का त्याग कर देता है वह स्वयं दैदीप्यमान रत्नों से युक्त तीन छत्रों से सुशोभित होता है। अनेक प्रकार के पङ्खाओं के त्याग से जिसने तपश्चरण की विधि का पालन किया है ऐसा मुनि जिनेन्द्र पर्याय में चौंसठ चमरों से विजित होता है अर्थात् उस पर चौंसठ चमर ढुलाये जाते हैं। जो मुनि नगाड़े तथा संगीत आदि की घोषणा का त्यागकर तपश्चरण करता है उसके विजय का उदय स्वर्ग के दुन्दुभियों के गंभीर शब्दों से घोषित किया जाता है। चूँकि पहले उसने अपने उद्यान आदि के द्वारा की हुई छाया का परित्याग कर तपश्चरण किया था इसलिये ही अब उसे (अरहंत अवस्था में महा अशोक वृक्ष की प्राप्ति होती है। जो अपना योग्य धन छोड़कर निर्ममत्व भाव को प्राप्त होता है वह स्वयं आकर दूर दरवाजे पर खड़ी हुई निधियों से सेवित होता है अर्थात् समवसरण भूमि में निधियाँ दरवाजे पर खड़े रहकर उसकी सेवा करती हैं। जिसकी रक्षा सब ओर से की गई थी

ऐसी घर की शोभा को छोड़कर इसने तपश्चरण किया इसीलिये श्रीमण्डप की शोभा अपने आप इसके सामने आती है।

तपोऽविगाहनादस्य गहनान्यधितिष्ठतः।

त्रिजगज्जनतास्थानसहं स्यादवगाहनं॥122॥

क्षेत्रवास्तुसमुत्सर्गात्क्षेत्रज्ञत्वमुपेयुषः।

स्वाधीनं त्रिजगत्क्षेत्रमेश्यमस्योपजायते॥123॥

आज्ञाभिमानमुत्सृज्य मौनमास्थितवानयं।

प्राप्नोति परमामाज्ञां सुरासुरशिरोधृतां॥124॥

स्वामिष्टभृत्यबन्ध्वादिसभामुत्सृष्टवानयं।

परमात्मपदप्राप्तावध्यास्ते त्रिजगत्सभां॥125॥

स्वगुणोत्कीर्तनं त्यक्त्वा त्यक्तकामो महातपाः।

स्तुतिनिन्दासमो भूपः कीर्त्यते भुवनेश्वरैः॥126॥

वन्दित्वा वन्द्यमर्हन्त यतोऽनुष्ठितवास्तपः।

ततोऽयं वन्द्यते वन्द्येरनिन्द्यगुणसन्निधिः॥127॥

जो तप करने के लिए सघन वन में निवास करता है उसे तीनों जगत् के जीवों के लिए स्थान दे सकने वाली अवगाहन शक्ति प्राप्त हो जाती है अर्थात् उसका ऐसा समवसरण रचा जाता है जिसमें तीनों लोकों के जीव सुख से स्थान पा सकते हैं। जो क्षेत्र मकान आदि का परित्याग करके शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता है उसे तीनों जगत् के क्षेत्र को अपने अधीन रखने वाला ऐश्वर्य प्राप्त होता है। जो मुनि आज्ञा देने का अभिमान छोड़कर मौन धारण करता है उसे सुर और असुरों के द्वारा शिर पर धारण की हुई उत्कृष्ट आज्ञा प्राप्त होती है अर्थात् उसकी आज्ञा सब जीव मानते हैं। चूँकि इस मुनि ने अपने इष्ट सेवक तथा भाई आदि की सभा का त्याग किया था इसलिये उत्कृष्ट अरहंत पद की प्राप्ति होने पर वह तीनों लोकों की सभा अर्थात् समवसरण भूमि में विराजमान होता है। जो सब प्रकार की इच्छाओं का परित्याग कर अपने गुणों की प्रशंसा करना छोड़ देता है और महातपश्चरण करता हुआ स्तुति तथा निन्दा में समान भाव रखता है वह तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा प्रशंसित होता है अर्थात् सब लोग उसकी स्तुति करते हैं। चूँकि इस मुनि ने वंदना करने योग्य अरहंत देव की वंदना कर तपश्चरण किया था इसीलिये यह वंदना करने के योग्य पूज्य पुरुषों के द्वारा

वंदना किया जाता है तथा प्रशंसनीय उत्तम गुणों का भंडार हुआ है।

तपोऽयमनुपानत्कः पादचारी विवाहनः।

कृतवान् पद्मगर्भेषु चरणन्यासमर्हति॥28॥

वाग्गुप्तो हितवाग्वृत्या यतोऽयं तपसि स्थितः।

ततोऽस्य दिव्यभाषा स्यात्प्रीणयन्त्यमखिलां सभां॥29॥

अनाश्चान्नियताऽऽहारपारणोऽतप्तयत्तपः।

तदस्य दिव्यविजयपरमामृततृप्तयः॥30॥

त्यक्तकामसुखो भूत्वा तपस्यस्थाच्चिरं यतः।

ततोऽयं सुखसाद्भूतः परमानन्दथुं भजेत्॥31॥

किमत्रबहुनोक्तेन यद्यदिष्टं यथाविधं।

त्यजेन्मुनिरसंकल्पस्तत्तत् सूतेऽस्य तत्तपः॥32॥

प्राप्तोत्कर्षं तदस्य स्यात्तपश्चिन्तामणेः फलं।

यतोऽर्हज्जातिमूर्त्यादिप्राप्तिः सैषानुवर्णिता॥33॥

जैनेश्वरीं परमाज्ञां सूत्रोद्दिष्टां प्रमाणयन्।

तपस्यां यदुपादत्ते पारिव्राज्यं तदाञ्जसं॥34॥

जो जूता और सवारी का परित्याग कर पैदल चलता हुआ तपश्चरण करता है वह कमलों के मध्य में चरण रखने के योग्य होता है अर्थात् अरहंत अवस्था में देवलोग उसके चरणों के नीचे कमलों की रचना करते हैं। चूँकि यह मुनि वचन गुप्ति को धारण कर अथवा हित-मित-वचन रूप भाषा समिति का पालन कर तपश्चरण में स्थित हुआ था इसलिये ही इसे समस्त सभा को संतुष्ट करने वाली दिव्य ध्वनि प्राप्त हुई है। इस मुनि ने पहले उपवास धारण कर अथवा नियमित आहार और पारणाएँ कर तप तपा था इसलिये ही इसे दिव्य तृप्ति, विजय तृप्ति परम तृप्ति और अमृत तृप्ति ये चारों ही तृप्तियाँ प्राप्त हुई हैं। चूँकि यह मुनि काम जनित सुख को छोड़कर चिरकाल तक तपश्चरण में स्थिर रहा था इसलिये ही यह सुख स्वरूप होकर परमानंद को प्राप्त हुआ है। इस विषय में बहुत कहने से क्या लाभ है? संक्षेप में इतना ही कह देना ठीक है कि मुनि संकल्प-रहित होकर जिस-जिस वस्तु का परित्याग करता है उसका तपश्चरण उसके लिये वही-वही वस्तु उत्पन्न कर देता है। जिस तपश्चरण रूपी चिन्तामणि का फल उत्कृष्ट पद की प्राप्ति आदि मिलता है और जिससे अरहंत देव की

जाति तथा मूर्ति आदि की प्राप्ति होती है ऐसी इस पारिव्रज्य नाम की क्रिया का वर्णन किया। जो आगम में कही हुई जिनेन्द्र देव की आज्ञा को प्रमाण मानता हुआ तपस्या धारण करता है अर्थात् दीक्षा ग्रहण करता है उसी के वास्तविक पारिव्रज्य होता है।

अन्यच्च बहुवाग्जाले निबद्धं युक्तिबाधितं।

पारिव्राज्यं परित्याज्यं ग्राह्यं चेदमनुत्तरं॥35॥

पंचत्रिंशच्छ्लोकैः प्रव्रज्या वर्णिता।

बोध प्राभृत की चूलिका

रूवत्थं सुद्धत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।

भव्वजणबोहणत्थं छक्कायहियंकरं उत्तं॥60॥

अनेक प्रकार के वचनों के जाल में निबद्ध तथा युक्ति से बाधित अन्य लोगों के पारिव्रज्य को छोड़कर इसी सर्वोत्कृष्ट पारिव्रज्य को ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार पैंतीस श्लोकों के द्वारा प्रव्रज्या का वर्णन किया गया है।

गाथार्थ—जिनमार्ग में जिनेन्द्र देव ने जिस प्रकार वर्णन किया है उसी प्रकार छह काय के जीवों का हित करने वाला यह निर्ग्रन्थ रूप का आचरण कर्मक्षय के निमित्त मैंने भव्य जीवों को संबोधने के लिए कहा है।

विशेषार्थ—जिनशासन में तीर्थकर परमदेव अपना गौतमान्त गणधरों ने जिस प्रकार कहा है उसी प्रकार निकट-भव्य जीवों को संबोधने के लिए छह काय के जीवों का हित करने वाला यह निर्ग्रन्थ मुद्राधारी मुनि का आचरण मैंने कर्मक्षय रूप शुद्धि के प्रयोजन से कहा है।

रूपस्थं शुद्धयर्थं जिनमार्गे जिनवरैर्यथा भणितम्।

भव्वजनबोधनार्थं षट्कायहितंकरं उक्तम्॥

सद्दवियारो हूओ भासा सुत्तेसु जं जिणे कहियं।

सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स॥61॥

गाथार्थ—शब्द विकार रूप परिणत भाषा सूत्रों में जिनेन्द्र भगवान् ने जो कहा था भद्रबाहू के शिष्य ने उसे वैसा ही कहा तथा जाना है।

विशेषार्थ—अरहंत भगवान् की दिव्य ध्वनि से जो पदार्थ निकला था वह शब्द विकार रूप परिणत हुआ अर्थात् गणधरों ने उसकी शास्त्र रूप रचना की। भगवान् की दिव्य ध्वनि सर्वार्ध मागधी भाषा रूप थी। उसमें जिनेन्द्र भगवान् ने (वर्तमान की

अपेक्षा अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर भगवान् ने) जो अर्थ रूप शास्त्र जिस प्रकार कहा था उसे भद्रबाहू के शिष्य ने उसी प्रकार कहा तथा जाना है। यहाँ भद्रबाहू के शिष्य से विशाखाचार्य का ग्रहण है। इन विशाखाचार्य के 'अर्हद्वल्लि' और 'गुप्ति-गुप्त' ये दो नाम और भी हैं तथा ये दश पूर्व के धारक ग्यारह आचार्यों के मध्य प्रथम आचार्य थे।

वारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।

सुयाणिभद्रबाहू गमयगुरुभयवओ जयओ॥६२॥

गाथार्थ-जो द्वादशांग के ज्ञान से युक्त थे, जिन्होंने चौदह पूर्वों का अत्यंत विस्तार किया था तथा जो गमको-व्याख्याकारों के गुरु थे वे भगवान् श्रुतज्ञानी भद्रबाहू जयवंत हो।

विशेषार्थ-इस पद्य में श्री कुंदकुंद स्वामी ने अंतिम श्रुत केवली श्री भद्रबाहू के प्रति विनय प्रगट करते हुए कहा है कि जो बारह अंगों के ज्ञाता थे, चौदह पूर्वों का जिन्होंने बहुत विस्तार किया था, जो पूर्ण श्रुतज्ञानी थे-पाँच श्रुत केवलियों में अंतिम श्रुत केवली थे, जो गमको के गुरु अर्थात् उपाध्याय थे और इन्द्र आदि के द्वारा आराधना के योग्य होने से भगवान् थे, वे भद्रबाहू महाराज जयवंत रहे उनके लिए हमारा नमस्कार है। शास्त्र के शब्द और उसके अनुरूप अर्थ को जो जानते हैं वे गमक कहलाते हैं।

(आत्म-चिन्तन)

मेरा धर्म स्वाधीन-शुद्ध-बुद्ध

-आ. कनकनन्दी

(चाल : आत्मशक्ति....., क्या मिलिये ऐसे....., बड़ा नटखट.....)

कितना श्रेय मम धर्म अद्वितीय! आत्मा से उत्पन्न आत्मा में ही लय।

देव-शास्त्र-गुरु निमित्त यह (वाला) आत्मा की विशुद्धि विकास सह॥ (ध्रुव)

यथा बीज होता अंकुर से वृक्ष, मृदा-जल आदि सहयोग सह।

मुझसे ही मेरा धर्म उदय, सुयोग्य द्रव्य क्षेत्र कालादि सह॥

बाह्य निमित्त अवश्य (ही) होता, मेरा विकास किन्तु मुझमें (ही) होता।

सम्यग्दर्शन भी मेरा ही स्वरूप, ज्ञान-चारित्र भी मेरा ही स्वरूप॥ (१)

तथाहि क्षमा मार्दव आर्जव शौच, सत्य संयम तप त्याग ब्रह्मचर्य।

आकिंचन्य आदि समस्त (मेरे) धर्म, मुझमें ही हुए मुझसे उत्पन्न।।

मेरे विरोधी कर्म मुझसे भिन्न, जिससे मेरे धर्म (हुए) मुझमें ही उत्पन्न।

वस्त्र आवृत्त रत्न से वस्त्र भिन्न, रत्न प्रगट होता स्वयं में विद्यमान।। (2)

अतएव मेरे धर्म प्रगट हेतु, विरोधी कर्म नष्ट (करना) यथार्थ हेतु।

मेरे धर्म से भिन्न मुझसे अन्य, अन्य से पृथक् प्राप्त होंगे स्वधर्म।।

अतः अन्य से (मुझे) राग द्वेष त्यजनीय, ईर्ष्या घृणा तृष्णा त्यजनीय।

अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा त्यजनीय, संकल्प-विकल्प-संकलेश त्यजनीय।। (3)

अहंकार-ममकार बंध त्यजनीय, पर का कर्ता-धर्ता-हर्ता त्यजनीय।

सत्ता-संपत्ति प्रसिद्धि त्यजनीय, स्व-स्वरूप (रूपी) स्वधर्म/(सुधर्म) त्यजनीय।।

कोई माने या न माने कोई जाने या न जाने, मुझे तो मुझे ही जानना-मानना।

मुझमें ही मुझे पाने हेतु प्रयत्न सतत मेरे द्वारा मुझमें ही करना।। (4)

इसी हेतु मुझे मौलिक होना विधेय, स्वतंत्र स्वावलंबी शुद्ध-बुद्ध।

ये ही मेरे गुण द्रव्य पर्याय 'कनक' का आत्म स्वभावमय स्वधर्म।। (5)

(स्वधर्म या सुधर्म हेतु हो रहे हैं अधर्म से बचने के लिए मेरा आत्म-चिंतन।)

ग.पु.काँ., सागवाड़ा, दिनांक 05.01.2016, रात्रि 7.47

संदर्भ-

आत्मस्वरूप एवं परस्वरूप

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगोन्द्रगोचरः।

बाह्यः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा।। (27)

I am, one. I am without delusion, I am the knower of things, I am knowable by master ascetics; all other conditions that arise by the union of the not-self are foreign to my nature in every way!

द्रव्यार्थिक नय से मैं एक हूँ, मैं ही पूर्व परावस्थाओं में अनुश्रुत रूप में रहने के कारण मैं एक हूँ यह मेरा है, मैं इसका हूँ इसी प्रकार अभिप्राय से शून्य होने के कारण निर्मम हूँ। शुद्ध नय की अपेक्षा द्रव्य कर्म, भाव कर्म से निर्मुक्त होने के कारण मैं शुद्ध हूँ। स्व-पर प्रकाश होने के कारण मैं ज्ञानी हूँ। अनंत पर्यायों को युगपत् जानने वाले केवलज्ञानी और श्रुतकेवली के शुद्धोपयोग स्वरूप ज्ञान का विषय हूँ, मैं स्वसंवेद्य के

द्वारा जानने योग्य हूँ। जो द्रव्य कर्म के संबंध से प्राप्त भाव तथा देह आदि है वे सर्व मेरे से सर्वथा सर्व प्रकार से बाह्य है, भिन्न है।

समीक्षा-इस श्लोक में आचार्यश्री ने स्वयं को अनुभव करने के/ध्यान करने के/प्राप्त करने के कुछ उपाय बताये हैं। भले व्यवहार नय से द्रव्य कर्म आदि के संयोग से जीव में विभिन्न वैभाविक भाव तथा शरीर आदि पाये जाते हैं तथापि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से यह आत्मा के स्वभाव नहीं है। ये सब पर संयोगज अशुद्ध भाव है। आचार्य कुंदकुंद देव ने समयसार में कहा भी है-

अहमिक्को खलु सुद्धो णिममओ णाणदंसणमग्गो।

तह्मि ठिओ तच्चिद्धो सेस सव्वे खय पोमि।।73।।

टीका-यह मैं आत्मा हूँ सो प्रत्यक्ष अखंड, अनंत, चैतन्य मात्र ज्योति हूँ। अनादि, अनंत, नित्य उदयरूप, विज्ञानघन स्वभाव रूप से तो एक हूँ और समस्त कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, आदान, अधिकरण स्वरूप जो कारकों का समूह उसकी प्रक्रिया से पार उतरा दूरवर्ती निर्मल, चैतन्य अनुभूति मात्र रूप से शुद्ध हूँ। जिनका द्रव्य स्वामी है ऐसे जो क्रोधादि भाव उनकी विश्व रूपता (समस्तरूपता) उनका स्वामित्व से सदा ही अपने नहीं परिणमने के कारण उनसे ममता रहित हूँ तथा वस्तु का स्वभाव सामान्य विशेष स्वरूप है इसीलिए चैतन्य मात्र तेज पुँज भी वस्तु है इस कारण सामान्य विशेष स्वरूप जो ज्ञानदर्शन उनसे पूर्ण हूँ। ऐसा आकाशादि द्रव्य की तरह परमार्थ स्वरूप वस्तु विशेष हूँ। इसलिए मैं इसी आत्म स्वभाव में समस्त पर द्रव्य से प्रवृत्ति की निवृत्ति करके निश्चल स्थित हुआ समस्त परद्रव्य के निमित्त से जो विशेष रूप चैतन्य में चंचल कल्लोलें होती थी, उनके विरोध से इस चैतन्य स्वरूप को ही अनुभव करता हुआ अपने ही अज्ञान से आत्मा में उत्पन्न क्रोधादिक भावों का क्षय करता हूँ ऐसा आत्मा में निश्चय कर तथा जैसे बहुत काल का ग्रहण किया जो जहाज या वह जिसने छोड़ दिया है, ऐसे समुद्र के भँवर की तरह शीघ्र ही दूर किये हैं समस्त विकल्प जिसने, ऐसा निर्विकल्प, अचलित निर्मल आत्मा को अवलंबन करता विज्ञानघन होता हुआ यह आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है।

आदिमध्यान्तहीनोऽहमाकाशसदृशोऽस्म्यहम्।

आत्मचैतन्यरूपोऽहमहामानंदचिद्घनः।

आनन्दामृतरूपोऽहमात्मसंस्भोऽहगन्तरः।

आत्मकामोहमाकाशात्परमात्मेश्वरोऽस्म्यहम्।१२।

ईशानोऽस्म्यहमीड्योऽहमनुत्रमपुरुषः।

उत्कृष्टोऽहमुपद्रष्टाद्रहनुतरोऽस्म्यहम्।१३।

केवलोऽहं कविः कर्माध्यक्षोऽहं करणाधियः।

गुहाशयोऽहं गोप्ताऽहं चक्षुषश्रक्षुरस्म्यहम्।१४।

चिदानन्दोऽस्म्यहं चेताश्रिद्घनश्रिन्मयोऽस्म्यहम्।

ज्योतिर्मयाऽस्म्यहं ज्यायान्ज्योतिषांज्योतिरस्म्यहम्।१५। (उपनिषद् पृ. २८)

मैं आदि मध्य और अंत से रहित हूँ आकाश के सदृश हूँ, मैं आत्म चैतन्य रूप हूँ, आनंद चेतन घन हूँ। मैं आनंदामृत रूप हूँ, आत्म संस्थित हूँ, अंतर हूँ, आत्मा काम हूँ और आकाश में परमात्मा परमेश्वर स्वरूप हूँ। मैं ईशान हूँ, पूज्य हूँ, उत्तम पुरुष हूँ, उत्कृष्ट हूँ, उपद्रष्टा हूँ और पर से भी परे हूँ। मैं केवल हूँ, कवि हूँ, कर्माध्यक्ष हूँ, कारण का अधिपति हूँ, मैं गुप्त आशय हूँ, गुप्त रखने वाला हूँ, और नेत्रों का नेत्र हूँ, मैं चिदानन्द हूँ, चेतना देने वाला हूँ, चिद्घन और चिन्मय हूँ, मैं ज्योतिर्मय हूँ, और मैं ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति हूँ।

अणोरणीयान तद्वन् महानदं विश्रमिदं विचित्रम्।

पुरातनोऽहं पूरीषोऽहमीशो हिरण्ययोऽहं शिवरूपमस्मि।।२०।।

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः पश्च्याम्यचक्षु च श्रृणोम्यकर्णः।

अहंविजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्त सदाहम्।।२१।।

वदैरनकैरहमेववेद्योवेदान्मकृद्वेदविवेदेब चाहम्।।२२।।

न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो न जन्म देहेन्द्रिय बुद्धिरस्ति।

न भूमिरापो ममवहिरस्ति न चानिलो मेऽस्ति च चाम्बरं च।।२३।।

(उपनिषद् पृ.४१८)

मैं छोटे से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा हूँ। इन अद्भुत संसार को मेरा ही स्वरूप मानना चाहिए। मैं ही शिव और ब्रह्मा का स्वरूप हूँ। मैं ही परमात्मा और विराट पुरुष हूँ। वह शक्ति जिसके न हाथ-पैर हैं और न जिसके संबंध में चिंतन किया जा सकता है, वह परब्रह्म मैं ही हूँ। सर्वदा चित्त स्वरूप रहता हूँ मुझे कोई जान

और समझ नहीं सकता, मैं बुद्धि के बिना ही सब कुछ जानने, स्थूल कानों के बिना सब कुछ सुनने और स्थूल आँखों के बिना सब कुछ देखने की सामर्थ्य रखता हूँ। मैं ही देव का उपदेश करता हूँ, मैंने ही वेदांत की रचना की है और सारे वेद मेरे ही संबंध में चर्चा करते हैं मैं जन्म और नाम से परे हूँ। पाप और पुण्य मुझे छू नहीं सकते। मैं शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से रहित हूँ। मेरे भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश कुछ संबंधी नहीं है।

त्यक्त्वा लोकांश्च वेदांश्च विषयाणीन्द्रियाणि च।

आत्मन्येव स्थितो यस्तु स याति परमां गतिम्॥11॥

नामगोत्रादिवरणं देश काल श्रुतं कुलम्

वयो व्रतं व्रतंशील ख्यायन्नैव सद्यतिः॥12॥

न संभाषोत्स्त्रयं काचित्पूर्वदृष्टं च न स्मरेत्।

कथां च वर्जयेत्तासां न पश्चयेयल्लिखितामपि॥13॥

एतच्चतुष्टयं मोहात्स्त्रीणामजरतो यतेः।

चित्तं विक्रि यतेऽवश्यं यद्विकारात्प्रणश्यति॥14॥

तृष्णां क्रोधोऽनृतं माया लोभमोहौ प्रियाप्रिये।

शिल्प व्याख्यानयोगशः च कामो रागः परिग्रहः॥15॥

अहंकारो मत्वं च चिकित्सा धर्मसाहसम्।

प्रायश्चित्तं प्रवासश्च मन्त्रौषधगराशिषः।

प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो ब्रजेदधः॥16॥

आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सुहृदोऽपि वा।

समाननं च न ब्रूयान्मुनिर्माक्षपरायणः॥17॥

प्रतिग्रहं न गृह्णीयान्नैव चान्यं प्रदापयेत्।

प्रेरयेद्वा तथा भिक्षुः स्वप्रेऽपि न कदाचन॥18॥

ज्यायाभ्रातृसुतादीनां बन्धूनां च शभाशुभम्।

श्रुत्वा दृष्ट्वा न कम्पेत शोकमीहौ त्यजेद्यतिः॥19॥

अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।

अनौद्धत्यमदीनत्वं प्रसादा स्थैर्यमार्जवम्॥10॥

अस्नेहो गुरुशुश्रूषा श्रद्धा क्षान्तिर्दमः शमः।

उपेक्षा धैर्यमाधुर्ये तितिक्षा करूणा तथा॥11॥

हीस्तथा ज्ञानविज्ञाने योगा लध्वशनं धृतिः।

एष स्वधर्मो विख्यातो यतीनां नियतात्मनाम्॥12॥ (उपनिषद् पृ. 327)

जो संन्यासी लोक, वेद, विषयों के भोग और इन्द्रियों का आश्रय छोड़कर आत्म स्थित रहता है वह परम गति को पाता है। संन्यासी अपने नाम, गोत्र, कुल, देश, काल, अवस्था, शील, व्रत, शास्त्र-ज्ञान आदि के संबंध में किसी से वार्ता न करे। किसी स्त्री से बात न करे, पूर्व परिचित स्त्री का स्मरण न करे, स्त्रियों के चित्रों को भी न देखे तथा स्त्रियों से संबंधित चर्चा न सुने। क्योंकि स्त्री संबंधी चर्चा, उनका स्मरण, चिंतावलोकन तथा संभाषण आदि से मन में विकार की उत्पत्ति होती है और वह उसकी योग भ्रष्टता का कारण होता है। संन्यासियों के लिए मोह-ममता, माया-लोभ, तृष्णा, क्रोध, असत्य, राग, अहंकार भावना, संग्रह व्याख्यान, शिल्प, चिकित्सा-व्यवसाय, परगृह निवास, प्रायश्चित्त, औषधि वितरण, मंत्र प्रयोग, धर्मार्थ साहसिक कार्य, आशीर्वाद देना आदि कर्म निषिद्ध हैं। जो ऐसा करता है वह अपने धर्म से पतित होता है। मुमुक्षु संन्यासी अपने किसी सुहृद् जन का भी स्वागत, सन्मान न करे और न उसे अपने पास ठहरावे। किसी का दिया हुआ दान न ले। किसी दूसरे को भी न दिलावे। किसी को दान देने या लेने की भी प्रेरणा न करे। स्त्री-पुरुष आदि किसी भी प्रियजन के शुभ या अशुभ समाचार को देख-सुनकर कभी विचलित न हो, हर्ष-शोक सर्वथा त्याग करे। अहिंसा भाव, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनौद्धत्य शांति, प्रसन्नता, स्थिरता, सरलता, स्नेहाभाव, गुरु-सेवा, श्रद्धा, क्षमा, इन्द्रिय निग्रह, मनोनिग्रह, उदासीनता, धीरता, मधुरता, सहनशीलता, करूणा, लज्जा, धारणा, स्वल्पाहार और ज्ञान-विज्ञान-परायणता-संन्यासी के लिए यह धर्मरूप से पालनीय है।

पञ्च-परमेष्ठी प्रार्थना

साधु-उपाध्याय-आचार्य भी आंशिक भगवान्

(साधु साधना अवस्था व सिद्ध साध्य अवस्था)

(चाल : ऐ! मालिक तेरे बंदे हम.....)

परमेष्ठी पञ्च..तेरे भक्त हम...तेरी भक्ति से..बने भगवन्...

तव ज्ञान करे..तव ध्यान धरे...तव स्वरूप बन जाएँ हम...

/(पञ्च देवता तैरे भक्त...)(ध्रुव)...

आ...आ...आ...आ...आ...

साधु पाठक सूरी भगवन्...अरिहंत-सिद्ध परम भगवन्...

परमेष्ठी पाँचों ही..हैं भगवन्...पाँचों देवता-गुरु भगवन्...

आद्य त्रय आंशिक भगवन्...अंत द्वय परम शुद्ध भगवन्.../(रत्नत्रयधारी पञ्च भगवन्)...

तव ज्ञान करे..तव ध्यान धरे...तव स्वरूप बन जाएँ हम...(1)...

आ...आ...आ...आ...आ...

पाँचों उत्तम-मंगल व शरण...पाँचों परमेष्ठी में गर्भित...

अंकुर से यथा बने है वृक्ष...साधु (पाठक, सूरी) से बनते अर्हन्-सिद्ध...

शिशु से बनता प्रौढ़-वृद्ध...श्रमण ही बनते अर्हन्-सिद्ध.../(मोक्षमार्गी कृतकृत्य सिद्ध)...

तव ज्ञान करे..तव ध्यान धरे...तव स्वरूप बन जाएँ हम...(2)...

आ...आ...आ...आ...आ...

श्रमण काल में तपते हैं तप...परीषह-उपसर्ग करते सहन...

इसी काल में करे ध्यान-अध्ययन...आहार इस काल में आवश्यक...

इसी काल में कष्ट सहन...करते व्रत-नियम पालन...

/(सिद्ध/(अरिहंत) काल में सुख अनंत)...

तव ज्ञान करे..तव ध्यान धरे...तव स्वरूप बन जाएँ हम...(3)...

आ...आ...आ...आ...आ...

अनेकांत नय-निक्षेप से...साधु ही होते नव देवता...

जीवन्त तीर्थ/(धर्म) स्वरूप साधु...निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग...

श्रमण परमेष्ठी पञ्चम काल के...जीवन्त परमेष्ठी साक्षात् हैं.../(णमो लोए सव्व साहूणम्)...

तव ज्ञान करे..तव ध्यान धरे...तव स्वरूप बन जाएँ हम...(4)...

आ...आ...आ...आ...आ...

आत्मिक विकास पञ्च परमेष्ठी...शुद्ध/(शुभ) से शुद्धतर-शुद्धतम्...

अरिहंत सिद्ध तो साध्य रूप...साधु पाठक सूरी साधन रूप...

साधन बिन न साध्य सिद्धि है...तीनों परमेष्ठी/(गुरु) साधन रूप.../(पाँचों को वंदे 'कनकनन्दी')....

तव ज्ञान करे..तव ध्यान धरे...तव स्वरूप बन जाएँ हम...(5)...

आ...आ...आ...आ...आ...

णमो लोए सव्व साहूणम्...

णमो लोए सव्व उवज्झायाणम्...

णमो लोए सव्व आयरियाणम्...

णमो लोए सव्व अरिहंताणम्...

णमो लोए सव्व सिद्धाणम्...

यह कविता धवला एवं जयधवला के आधार पर है।

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 07.01.2016, रात्रि 11.05 व प्रातः 5.42

संदर्भ-

आचार्य परंपरा से आये हुए इस न्याय को मन में धारण करके और पूर्वाचार्यों के आचार अर्थात् व्यवहार परंपरा का अनुसरण करना रत्नत्रय का कारण है, ऐसा समझकर पुष्पदंत आचार्य मंगलादिक छहों अधिकारों का सकारण व्याख्यान करने के लिए मंगल-सूत्र कहते हैं-

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।। (1) धवला पु. 1. पृ.8

अरिहंतों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक में सर्व साधुओं को नमस्कार हो।

कलिकाल सर्वज्ञ धवला एवं जयधवला के कुशल टीकाकार वीरसेन स्वामी जो स्वयं महान् आचार्य थे उन्होंने भी पाँचों परमेष्ठी में प्रथम साधु परमेष्ठी को नमस्कार किया है।

साहूवज्झाइरिए अरंहते वंदिउण सिद्धे वि।

जे पंच लोगवाले वोच्छं बंधस्स सामित्तं।। (धवला पु. 8 पृ. 1)

साधु, उपाध्याय, आचार्य, अरहंत और सिद्ध ये जो पंच लोकपाल अर्थात् लोकोत्तम परमेष्ठी हैं उनको नमस्कार करके बंध के स्वामित्व को कहते हैं।

आचार्य वट्टकेर ने भी कहा है कि साधु को नमस्कार करने वाले का कर्मक्षय होता है इसलिये स्वयं उन्होंने भी संयमी को नमस्कार किया है।

मूलगुणेषु विसुद्धे वंदित्ता सव्व संजदे सिरसा। पृ. 2, मूलाचार ।

मूलगुणों में विशुद्ध सभी संयतों को सिर झुकाकर नमस्कार करके।

साहूण णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।

सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण।। पृ. 390

जो स्थिर चित्त हुआ भव्य जीव भावपूर्वक साधुओं को नमस्कार करता है वह तत्काल ही सर्व दुःखों से छूटकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

स्वयं कुंदकुंद देव ने भी पंचपरमेष्ठी के साथ साधु परमेष्ठी को नमस्कार किया है-

किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।

अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं।। (4) प्र.सा., पृ. 64

इस प्रकार अरिहंतों को, सिद्धों को और गणधरों को, आचार्यों को, उपाध्यायों को तथा सभी साधुओं को नमस्कार करके।

नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने भी द्रव्यसंग्रह में स्वयं साधु परमेष्ठी को नमस्कार किया है और पदस्थ ध्यान में साधु परमेष्ठी का ध्यान करने की प्रेरणा दी है-

दंसणणाणसमगं मगं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।

साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स।। (54) पृ. 173

जो दर्शन और ज्ञान से पूर्ण मोक्ष का मार्ग भूत और सदा शुद्ध ऐसे चारित्र को प्रकट रूप से साधते हैं वे मुनि साधु परमेष्ठी हैं उनके अर्थ मेरा नमस्कार हो।

‘णमो लोए सव्व साहूणं’ मंत्रांश का व्याख्यान करते हुए वीरसेन स्वामी ने कहा है-

“सकलकर्मभूमीघूत्पन्नेभ्यस्त्रिकालगोचरेभ्यः साधुभ्यो नमः।”

पृ.51 धवला पु. ।

संपूर्ण कर्मभूमियों में उत्पन्न हुए त्रिकालवर्ती साधुओं को नमस्कार हो।

पाँच परमेष्ठियों को नमस्कार करने में, इस णमोकार मंत्र में जो ‘सर्व’ और ‘लोक’ पद हैं वे अंतदीपक है, अतः संपूर्ण क्षेत्र में रहने वाले त्रिकालवर्ती अरिहंत आदि देवताओं को नमस्कार करने के लिए उन्हें प्रत्येक नमस्कारात्मक पद के साथ

जोड़ लेना चाहिए।

शंका—जिन्होंने आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लिया है ऐसे अरिहंत और सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार करना योग्य है किन्तु आचार्यादिक तीन परमेष्ठियों ने आत्म-स्वरूप को प्राप्त नहीं किया है, इसलिये उनमें देवपना नहीं आ सकता है। अतएव उन्हें नमस्कार करना योग्य नहीं है?

समाधान—ऐसा नहीं है क्योंकि अपने-अपने भेदों से अनंत भेदरूप रत्नत्रय ही देव है, अतएव रत्नत्रय से युक्त जीव भी है, अन्यथा (यदि रत्नत्रय की अपेक्षा देवपना न माना जाय तो) संपूर्ण जीवों को देवपना प्राप्त होने की आपत्ति आ जायेगी इसलिये यह सिद्ध हुआ कि आचार्यादिक भी रत्नत्रय के यथायोग्य धारक होने से देव हैं क्योंकि अरिहंतादिक से आचार्यादिक में रत्नत्रय के सद्भाव की अपेक्षा कोई अंतर नहीं है अर्थात् जिस तरह अरिहंत और सिद्धों के रत्नत्रय पाया जाता है, उसी प्रकार आचार्यादिक के भी रत्नत्रय का सद्भाव पाया जाता है इसलिये आंशिक रत्नत्रय की अपेक्षा इनमें भी देवपना बन जाता है।

आचार्यादि परमेष्ठियों में स्थित तीन रत्नों का सिद्ध परमेष्ठी में स्थित रत्नों से भेद भी नहीं है। यदि दोनों के रत्नत्रय में सर्वथा भेद मान लिया जावे तो आचार्यादिक में स्थित रत्नत्रय के अभाव का प्रसंग आयेगा अर्थात् जब आचार्यादिक के रत्नत्रय सिद्ध परमात्मा के रत्नत्रय से भिन्न सिद्ध हो जायेंगे तो आचार्यादिक के रत्नत्रय ही नहीं कहलायेंगे।

आचार्यादिक और सिद्ध परमेष्ठी के सम्यग्दर्शनादिक रत्नों में कारण कार्य के भेद से भी भेद नहीं माना जा सकता है क्योंकि आचार्यादिक में स्थित रत्नों के अवयवों के रहने पर ही तिरोहित अर्थात् कर्मपटलों के कारण पर्याय रूप से अप्रगट, दूसरे रत्नावयवों का अपने आवरण कर्म के अभाव हो जाने के कारण अविर्भाव पाया जाता है अर्थात् जैसे-जैसे कर्मपटलों का अभाव होता जाता है वैसे-वैसे अप्रगट रत्नों के शेष अवयव अपने-आप प्रगट होते जाते हैं। इसलिये उनमें कारण कार्यपना भी नहीं बन सकता है। इसी प्रकार आचार्यादिक और सिद्धों के रत्नों में परोक्ष और प्रत्यक्ष-जन्य भेद भी नहीं माना जा सकता है क्योंकि वस्तु के ज्ञान-सामान्य की अपेक्षा दोनों एक हैं। केवल एक ज्ञान के अवस्था भेद से भेद नहीं माना जा सकता है। यदि ज्ञान में उपाधिकृत अवस्था-भेद से भेद माना जाये, तो निर्मल और मलिन

दशा को प्राप्त दर्पण में भी भेद मानना पड़ेगा। इसी प्रकार आचार्यादिक और सिद्धों के रत्नों में अवयव और अवयवी-जन्य भी भेद नहीं है, क्योंकि अवयव अवयवी से सर्वथा अलग नहीं रहते हैं।

शंका-संपूर्ण रत्न अर्थात् पूर्णता को प्राप्त रत्नत्रय को ही देव माना जा सकता है, रत्नों के एकदेश को देव नहीं माना जा सकता?

समाधान-ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि रत्नों के एकदेश में देवपना के अभाव मान लेने पर रत्नों की समग्रता में भी देवपना नहीं बन सकता है अर्थात् जो कार्य जिसके एकदेश में नहीं देखा जाता है वह उसकी समग्रता में कहाँ से आ सकता है?

शंका-आचार्यादिक में स्थित रत्नत्रय समस्त कर्मों के क्षय करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं क्योंकि उनके रत्न एकदेश है?

समाधान-यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार पलाल-राशि का दाहरूप अग्नि-समूह का कार्य अग्नि के एक कण से भी देखा जाता है उसी प्रकार यहाँ पर भी समझना चाहिए। इसलिये आचार्यादिक भी देव हैं, यह बात निश्चित हो जाती है।

शंका-सर्व प्रकार के कर्म-लेप से रहित सिद्ध-परमेष्ठी के विद्यमान रहते हुए अघातियाँ कर्मों के लेप से युक्त अरिहंतों को आदि में नमस्कार क्यों किया जाता है?

समाधान-यह कोई दोष नहीं है क्योंकि सबसे अधिक गुणवाले सिद्धों में श्रद्धा की अधिकता के कारण अरिहंत परमेष्ठी ही हैं अर्थात् अरिहंत परमेष्ठी के निमित्त से ही अधिक गुणवाले सिद्धों में सबसे अधिक श्रद्धा उत्पन्न होती है अथवा यदि अरिहंत परमेष्ठी न होते तो हम लोगों को आप्त, आगम और पदार्थ का परिज्ञान नहीं हो सकता था किन्तु अरिहंत परमेष्ठी के प्रसाद से हमें इस बोध की प्राप्ति हुई है। इसलिये उपकार की अपेक्षा भी आदि में अरिहंतों को नमस्कार किया जाता है।

यदि कोई कहे कि इस प्रकार आदि में अरिहंतों को नमस्कार करना तो पक्षपात है? इस पर आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा पक्षपात दोषोत्पादक नहीं है किन्तु शुभपक्ष में रहने से वह कल्याण का ही कारण है तथा द्वैत को गौण करके अद्वैत की प्रधानता से किये गये नमस्कार में द्वैतमूलक पक्षपात बन भी तो नहीं सकता है।

पक्षपात वहीं संभव है जहाँ दो वस्तुओं में से किसी एक की ओर अधिक

आकर्षण होता है परन्तु यहाँ परमेष्ठियों को नमस्कार करने में दृष्टि प्रधानतया गुणों की ओर रहती है, वस्तुभेद की प्रधानता नहीं है। इसलिये यहाँ पक्षपात किसी प्रकार भी संभव नहीं है।

आप्त की श्रद्धा से ही आप्त, आगम और पदार्थों के विषय में दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न होती है, इस बात के प्रसिद्ध करने के लिए भी आदि में अरिहंतों को नमस्कार किया गया है। कहा भी है-

जस्संतियं धम्मवहं णिगच्छे तस्संतियं वेणइयं-पउंजे।

सक्कारए तं सिर-पंचएण काएण वाया मणसा वि णिच्चं।। (34) षट्.पृ.54

जिसके समीप धर्म-ज्ञान प्राप्त करे, उसके समीप विनय युक्त होकर प्रवृत्ति करनी चाहिए तथा उसका शिर-पंचक अर्थात् मस्तक, दोनों हाथ और दोनों जंघाएँ पंचांगों से तथा काय, वचन और मन से निरंतर सत्कार करना चाहिए।

उपरोक्त प्रकरण से सिद्ध होता है कि आचार्य भी त्रिकालवर्ती साधुओं को नमस्कार करते हैं। इसलिए वर्तमान साधुओं को भी नमस्कार करना स्वतः सिद्ध हुआ। वर्तमान काल के तीन कम नौ करोड़ संयमी में भी छठे गुणस्थानवर्ती श्रमण को स्वीकार किया गया है। निर्ग्रंथ श्रमण के पाँच भेद हैं उनमें भी छठे गुणस्थानवर्ती विभिन्न प्रकार के श्रमण को गर्भित किया गया है जिसे णमोकार मंत्र में भी 'णमो लोए सव्व साहूणं' कहकर नमस्कार किया गया है।

आचार्यों के महान् गुणों की स्तुति

(आचार्य प्राज्ञ-आगमज्ञ-लोकज्ञ-अनिन्दक आदि गुणों से युक्त होते)

(आचार्य के अधिकांश गुण उपाध्याय व साधु में भी होते हैं)

(चाल : तुम दिल की.....(शत-शत वंदन).....)

धन्य हे! आचार्य...धन्य हो तुम...कितने महान् गुण युक्त हो...

छत्तीस मूल गुण सहित होकर भी...पाठक (व) साधु गुण युक्त हो...(स्थायी)...

महान् प्राज्ञ हो! शास्त्रज्ञ तुम हो!...लोकज्ञता में प्रवीण हो...

ख्याति पूजा लाभ से विरक्त होकर...हित-मित-स्पष्ट बोलते हो...

महान् गुणी हो! प्रशमवान् हो!...प्रश्न पूर्व ही उत्तर जानते हो...

प्रश्नों को तुम सहने वाले हो !...अनिन्दक मनोहारी कथक हो...(1)...

समर्थवान् हो ! ज्ञानवान् हो !...गुण-दोष ज्ञाता व लोकज्ञ हो...

तो भी गुणग्राही...दोषअपरिस्त्रावी/(अनिन्दक)...गुणनिधि तुम सूरीश्वर हो...

धर्मकथा/(परमागम) उपदेशक हो...विकथा व निन्दा से रिक्त हो...

द्रव्य क्षेत्र काल भाव अनुसार...उपदेश सम्यक् ही करते हो...(2)...

मन-वचन-काय व कृत कारितादि...नवकोटि से पावन भाव युक्त हो...

मोक्षमार्ग प्रवर्तन प्रतिबोधन में...सतत प्रयत्नशील रहते हो...

बुधजनों से भी वंदित होकर...अहंकार से आप रहित हो...

लोकेष्णा रहित लोकज्ञता सहित...मृदुता गुण से सहित हो...(3)...

आचार पालक आचरण प्रशिक्षक...शांति मर्यादा के पालक हो...

ज्ञान वैराग्य व समता क्षमा के...आप पालक उपदेशक हो...

निस्पृह निराडम्बर आत्मविशुद्धि में...आप तो सदा लीन रहते हो...

‘कनकनन्दी’ तो तव अनुयायी...आपको मेरा शत-शत वंदन...(4)...

उपाध्याय साधुओं में भी आपके...अनेक गुण होते हैं...

अष्टावीस (28) मूलगुण भी तीनों...परमेष्ठी में होते हैं...

प्रायश्चित्त व दीक्षा के अतिरिक्त...आप सम उपाध्याय होते हैं...

मौन साधना में तो साधु परमेष्ठी...आत्म-साधना करते हैं...(5)...

नन्दौड़, दिनांक 11.11.2015, रात्रि 8.30 व प्रातः 8.42, वीर निर्वाणोत्सव

संदर्भ-

वद-समिदि-गुत्ति-जुत्ता मुत्ति-पहे ठाविया पुणो अण्णो।

अज्झावय-गुण-णिलया साहु-गुणेणावि संजुत्ता।। (4)

आचार्य व्रत समिति गुप्ति से सहित होते हैं, वे मुक्तिपथ में अन्य को भी स्थापित करते हैं। उपाध्याय परमेष्ठी के गुणों से सहित होते हैं व साधु गुण से भी संयुक्त होते हैं।

उत्तम-खमाए पुढवी पसण्ण-भावेण अच्छ-जल-सरिसा।

कम्मिंधण-दहणादो अगणी वाऊ असंगादो।। (5)

उत्तम क्षमा में पृथ्वी के समान आचार्य होते हैं, प्रसन्न भाव में स्वच्छ जल की सरिता के समान होते हैं, कर्मरूपी ईंधन को दहन करने के लिए आचार्य अग्नि के समान होते हैं व वायु के समान निसंग (परिग्रह रहित, निर्ग्रथ व अनासक्त) होते हैं।

स्वाध्याय व अध्यापन गुण युक्त उपाध्याय की स्तुति

(स्व-पर मत ज्ञाता व तात्कालीन ज्ञान-विज्ञान युक्त उपाध्याय)

(चाल : तुम दिल की...(शत-शत वंदन.....))

धन्य उपाध्याय! धन्य हो तुम...कितना ज्ञानदान करते हो...

पच्चीस मूलगुण सहित होकर...अध्ययन-अध्यापन करते हो...धन्य...(स्थायी)...

प्रथमानुयोग व करणानुयोग...चरणानुयोग (व) द्रव्यानुयोग मय...

ग्यारह अंग व चौदह पूर्व का...अध्ययन-अध्यापन सहित हो...

स्व-पर मत व तात्कालिक ज्ञान...विज्ञानों से अभी सहित हो...

दीक्षा व प्रायश्चित्त के अतिरिक्त...आचार्य के गुण सहित हो...(1)...

आगम-अनुभव तात्कालीन ज्ञान सह...लोकज्ञता से भी युक्त हो...

साधु-साध्वी-मुमुक्षु श्रावक व...भव्यों को ज्ञानदान करते हो...

अनेकान्तात्मक ज्ञान संपदा को...स्याद्वाद पद्धति से कहते हो...

निन्दा-चुगली-अपमान रहित...हित-मित-सत्य कहते हो...(2)...

शान्त-गम्भीर-उदार गुणयुक्त...समता-सहिष्णु सहित हो...

सत्य गवेषी-आत्मानुशासी...प्रशम-संवेग सहित हो...

समीक्षा-समन्वय-विश्लेषण द्वारा...द्रव्य व तत्त्व के ज्ञाता/(उपदेष्टा) हो...

तुम्हारे गुणों का अनुयायी 'कनक'...शत-शत वंदन तुमको हो...(3)...

नन्दौड़, दिनांक 12.11.2015, मध्याह्न 12.05, नव संवत्सर (वीर निर्वाण)

“विभिन्न उपमा व विशेषणों से श्रमण की स्तुति”

(विभिन्न पशु व भौतिक वस्तुओं से श्रमण की उपमा)

(चाल : तुम दिल की...(शत-शत वंदन...), सायोनारा.....)

धन्य हे! गुरुवर...धन्य हो तुम...कितने विशेषण सहित हो...

अनेक श्रेष्ठ विशेषणों के...भाव से आप सहित हो...(ध्रुव)...

समुद्र के सम गम्भीर हो...सुमेरू के सम अचल हो...

सूर्य सम तेजस्वी हो...चन्द्र के सम शीतल हो...

वायु के सम निःसंग हो...चन्दन के सम सुगन्ध हो...

सिंह के सम पराक्रमी हो...गज के सम स्वाभिमानी हो...अनेक...(1)

बैल के समान भद्र हो...मृग के समान सरल हो...

पशु (गो) सम निरीह गोचरी...भ्रामरी वृत्ति सहित हो...

मणि के सम प्रभापुञ्ज हो...क्षिति के सम सहिष्णु हो...

सर्प सम अनियत वासी हो...आकाश सम निरालम्बी/(निर्लिप्त) हो...(2)

यथाजात बालक सम नग्न...सरल-सहज दिगम्बर हो...

पदविहारी-कमण्डलधारी...मयूर पिच्छी सहित हो...

पाणिपात्र आहारी (शुद्ध) शाकाहारी...अयाचक वृत्ति सहित हो...

केशलोचकारी स्वावलंबनधारी...धीर-वीर व गंभीर हो...अनेक...(3)

धैर्य जिनके पिता...क्षमा है माता...शान्ति ही जिनकी गृहिणी...

सत्य है पुत्र...दया ही भगिनी...भ्राता है मन-संयम...

शय्या है भूमितल...दिशा ही वसन...ज्ञान अमृत है भोजन...

भूषण रत्नत्रय...मोक्ष लक्ष्य...वैभव है आकिञ्चन्य...अनेक...(4)

ऐसे विविध गुण अलौकिक...अनुपम सह होते श्रमण गुरु...

आप साक्षात् जीवन्त धर्म...दशधा धर्म भी आप गुरु...

नवविध देवता तेरे ही रूप...विविध कार्य-कारण सम्बन्ध...

तव स्वरूप व भक्ति मैं चाहूँ...‘कनक’ श्रमण का अनुबंध...अनेक...(5)

नन्दौड़, दिनांक 18.11.2015, रात्रि 8.00

सन्दर्भ-

धैर्यं यस्य पिता क्षमाश्च जननी शान्तिश्चिर गृहिणी।

सत्यं सुनूर्यं दया च भगिनी भ्रातः मनः संयमः।

शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनम्।

ये ते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्मात् भीतो योगिनः॥ (रत्नत्रयभूषणम्)

(गाय के समान (गोचरी) भोजन (शाकाहार मोटा, रेशेदार भोजन) करना चाहिए, इस विषय में कुछ लोग समझ न पाये, इस कारण यह कविता बनी।)

सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारुद-सूरुवहि-मंदरिदु-मणी।

खिदि-उरगंबर-सरिसा परम-पय-विमग्गया साहू॥33॥

सकल कर्म भूमीषूत्पत्रेभ्यस्त्रिकालगोचरेभ्यः साधुभ्यो नमः। धवला, पृ.51

‘णमो लोए सव्वसाहूणं’ लोक अर्थात् ढाई द्वीपवर्ती सर्व साधुओं को नमस्कार हो। जो अनंत ज्ञानादिरूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं। जो पाँच महाव्रतों को धारण करते हैं, तीन गुणियों से सुरक्षित हैं, अठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तर गुणों का पालन करते हैं वे साधु परमेष्ठी होते हैं।

सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमानी या उन्नत, बैल के समान भद्र प्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह गोचरी-वृत्ति करने वाले, पवन के समान निःसंग या सब जगह बिना रुकावट के विचरने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी या सकल तत्त्वों के प्रकाशक, उदधि अर्थात् सागर के समान गंभीर, मन्दराचल अर्थात् सुमेरु-पर्वत के समान परीषह और उपसर्गों के आने पर अकम्प और अडोल रहने वाले, चन्द्रमा के समान शांतिदायक, मणि के समान प्रभा-पुंजयुक्त, क्षिति के समान सर्व प्रकार की बाधाओं को सहने वाले, उरग अर्थात् सर्प के समान दूसरे के बनाये हुए अनियत आश्रय-वसतिका आदि में निवास करने वाले, अम्बर अर्थात् आकाश के समान निरालंबी या निर्लेप और सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्ष का अन्वेषण करने वाले साधु होते हैं। संपूर्ण कर्मभूमियों में उत्पन्न हुए त्रिकालवर्ती साधुओं को नमस्कार हो।

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः,

स च भवति सुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।

इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धै,

न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति॥ (नियमसार, पृ.18)

‘अभिमत फल की सिद्धि का उपाय सम्यग्ज्ञान है, वह सम्यग्ज्ञान सुशास्त्र से होता है और सुशास्त्र की उत्पत्ति आप्त से होती है, इसलिये उनके प्रसाद से ही इष्ट-

मोक्ष की सिद्धि होने से वे आप्त प्रबुद्ध ज्ञानी जनों के द्वारा पूज्य होते हैं क्योंकि साधुजन किये हुए उपकार को कभी नहीं भूलते हैं।’

मेरी शुद्धात्म-अनुप्रेक्षा

-आ. कनकनन्दी

(चाल : भावे वन्दु तो अरिहंत.....)

मैं आत्मा हूँ परमात्मा हूँ...मैं द्रव्य-गुण-पर्याय हूँ।

मैं शुद्ध-बुद्ध आनंद हूँ...उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हूँ॥

सत्य समता शांति हूँ मैं...निर्मल व निर्विकार हूँ।

क्षमा-मार्दव-शौच हूँ मैं...सरल-सहज-सुख मैं हूँ॥

संयम-तप-त्याग हूँ मैं...आकिंचन्य ब्रह्मचर्य हूँ मैं।

अहिंसा अपरिग्रह निर्भय हूँ मैं...अचौर्य, निराबाध हूँ मैं॥

श्रद्धा-प्रज्ञा-चारित्र्य हूँ मैं...अस्तित्व-वस्तुत्व भी हूँ मैं।

मोक्षमार्ग-मोक्ष भी हूँ मैं...पुण्य-पाप रिक्त विशुद्ध हूँ मैं॥

द्रव्य-भाव-नोकर्म (से) परे मैं...तन-मन व इन्द्रिय परे हूँ।

धन-जन व नाम से (भी) परे मैं...जाति-लिंग व भाषा परे हूँ॥

क्षेत्र-काल सीमा से परे मैं...पंथ-मत सीमा से परे।

भेद-भाव से रहित हूँ मैं...शत्रु-मित्र से भी मैं परे॥

मुझमें ही मेरी अनंत शक्ति...मुझमें ही मेरी सभी उपलब्धि।

मुझमें ही मेरे सभी धर्म हैं...‘कनक’ मुझमें (ही) मेरे सभी तीर्थ॥

ग.पु.काँ., सागवाड़ा, दिनांक 13.01.2016, रात्रि 8.20

ज्ञानदाता-शिक्षागुरु-उपाध्याय की विशेषता व पूजनीयता

(शिक्षागुरु तप-दीक्षा-आयु में कम होने पर भी दीक्षागुरु के समान वंदनीय)

(चाल : तुम दिल की....., छोटी-छोटी गैया....., आत्म शक्ति.....)

शिक्षा गुरु-उपाध्याय होते हैं पूजनीय दीक्षा गुरु समान।

दीक्षा-तप-आयु में भी यदि कम, तथापि होते हैं वंदनीय॥

विनयवन्त शिष्य-मुनि जिसके पास करते हैं अध्ययन।
वे होते हैं शिक्षादाता गुरु उपाध्याय भी होते पूजनीय॥ (1)
ग्यारह अंग-चौदह पूर्व के ज्ञाता, होते हैं चतुर्थ काल के।
स्व-परमत व तात्कालीन ज्ञान से युक्त होते पंचम काल (वर्तमान) के।

आगम व परमागम की शिक्षा देते हैं उपाध्याय गुरु।
अनुयोग चार व परमागममय, स्व-शुद्धात्मा का उपदेश गुरु॥ (2)

इसी से शिष्य को होता है बोध जिससे बढ़ता ज्ञान-वैराग्य।
आत्मा-परमात्मा का परिज्ञान होता, जिससे बढ़ता है भेद-विज्ञान॥

‘अहमेक खलुसुद्ध’ का ज्ञान होता मैं हूँ एक निश्चय से शुद्धात्मा।
द्रव्य भाव नोकर्म से रहित, शुद्ध-बुद्ध-आनंदमय आत्मा॥ (3)

तन-मन-इन्द्रियों से परे अनंत ज्ञान-दर्शन-सुखमय आत्मा।
कर्म से लेकर इन्द्रिय तक नहीं निश्चय से मेरा शुद्ध आत्मा॥

ये सभी तो अनादि परंपरा से, प्राप्त वैभाविक संबंध है।
वैभाविक से परे मेरा स्वरूप शुद्ध-बुद्ध व आनंद है॥ (4)

वैभाविक को त्याग करना ही, यथार्थ से तप-त्याग-संयम है।
वैभाविक परे मेरा (शुद्ध) स्वरूप ही, आत्मोपलब्धि रूप मोक्ष॥

ऐसे परमज्ञाता गुरु होते हैं परम उपकारी।
इसी हेतु ही शिक्षा गुरु भी दीक्षा गुरु सम उपकारी॥ (5)

दीक्षा देने हेतु जितना श्रम व समय लगता दीक्षा गुरु को।
उससे भी बहुगुणित श्रम व समय लगता है शिक्षा गुरु को॥

दीक्षा व प्रायश्चित्त के अतिरिक्त आचार्य-उपाध्याय के होते समान गुण।
यह वर्णन है सिद्धांत ग्रंथ (धवला) का, सामान्य साधु से अति महान्॥ (6)

इसलिए आगम में शिक्षा गुरु को, माना गया साधु से भी वंदनीय।
भले अन्य साधु से दीक्षा तपादि से कम होने पर भी उपाध्याय/(शिक्षा गुरु)॥

ऐसा आगमोक्त विधि को नहीं जानते अधिकांश साधु-श्रावक।

उन्हें बताने के लिए काव्य रचा है उपाध्याय-सूरी 'कनक' ॥ (7)

ग.पु.कॉ., सागवाड़ा, दिनांक 01.02.2016, रात्रि 8.00

संदर्भ-

महाव्रती-सहस्रेभ्यो वरमेको जिनागमी।

जिनागमी सहस्रेभ्यो वरमेकः स्वतत्ववित्॥ (138) सम्यक्तकौमुदी

हजारों महाव्रतियों की अपेक्षा एक जिनागम का ज्ञाता अच्छा है और हजारों जिनागम के ज्ञाताओं की अपेक्षा एक आत्म तत्त्व को जानने वाला अच्छा है।

विनय योग्य श्रमण

अब्भुट्टेया समाणा सुत्तथविसारदा उवासेया।

संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं॥ (263) प्र.सा.

Sramanas skilled in interrelation of sacred texts and rich in moral discipline, austerities and right knowledge, should be welcomed with a stand-up should be served and be bowed down to by other ascetics.

अथाभ्यागतानां तदेवाभ्युत्थानादिकं प्रकारान्तरेण निर्दिशति-

(अब्भुट्टेया) यद्यपि चारित्रगुणेनाधिका न भवन्ति तपसा वा तथापि सम्यग्ज्ञानगुणेन ज्येष्ठत्वात्श्रुतविनयार्थमभ्युत्थेयाः अभ्युत्थेया अभ्युत्थानयोग्या भवन्ति। के ते? (समणा) निर्ग्रन्थाचार्याः। किं विशिष्टाः? (सुत्तथविसारदा) विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वप्रभृत्यनेकान्तात्मकपदार्थेषुवीतरागसर्वज्ञप्रणीतमार्गेण प्रमाणनयनिक्षेपैर्विचारचतुरचेतसः सूत्रार्थविशारदाः। न केवलमभ्युत्थेयाः (उवासेया) परमचिज्ज्योतिः परमात्मपदार्थपरिज्ञानार्थमुपासेयाः परमभक्त्या सेवनीयाः। (संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि) संयम तपोज्ञानाढ्या प्रणिपतनीयाः हि स्फुटम् बहिरंगेन्द्रियसंयमप्राणसंयमबलेनाभ्यन्तरे स्वशुद्धात्मनि यत्नपरत्वं संयमः। बहिरङ्गानशनादितपोबलेनाभ्यन्तरे परद्रव्येच्छानिरोधेन च स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः। बहिरङ्गपरमागमाभ्यासेनाभ्यन्तरे स्वसंवेदनज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। एवमुक्तलक्षणैः संयमतपोज्ञानैराढ्या परिपूर्णा यथासम्भवं प्रतिवन्दनीयाः। कैः? (समणेहिं) श्रमणैरिति। अत्रेदं तात्पर्यम्-ये बहुश्रुता अपि चारित्राधिका न भवन्ति तेऽपि परमागमाभ्यासनिमित्तं यथायोग्यं वन्दनीयाः। द्वितीयं च कारणं-ते सम्यक्त्वे ज्ञाने

च पूर्वमेव दृढतराः अस्य तु नवतरतपोधनस्य सम्यक्त्वे ज्ञाने चापि दाढ्यं नास्ति तर्हि स्तोत्रचारित्राणां किमर्थमागमे वन्दनादिनिषेधः कृत इति चेत्? अति प्रसङ्गनिषेधार्थमिति।

आगे अभ्यागत साधुओं के विनय को दूसरे प्रकार से बताते हैं-

(समणेहिं) साधुओं के द्वारा (हि) निश्चय करके (सुत्तत्यविसारदा) शास्त्रों के अर्थ में निपुण तथा (संजमतवणाणङ्का) संयम, तप और ज्ञान से पूर्ण (समणा) साधुगण (अब्भुट्टेया) खड़े होकर आदर करने योग्य हैं, (उवासेया) उपासना करने योग्य हैं तथा (पणिवंदणीया) नमस्कार करने योग्य हैं। जो निर्ग्रन्थ आचार्य, उपाध्याय या साधु विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावमय परमात्म तत्त्व को आदि लेकर अनेक धर्ममय पदार्थों के जानने में वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कथित मार्ग के अनुसार प्रमाण, नय, निक्षेपों के द्वारा विचार करने के लिए चतुर बुद्धि के धारक हैं तथा बाहर में इन्द्रिय संयम व प्राणी संयम को पालते हुए भीतर में इनके बल से अपने शुद्धात्मा के ध्यान में यत्नशील हैं ऐसे संयमी हैं तथा बाहर में अनशनादि तप को पालते हुए भीतर में इनके बल से परद्रव्यों की इच्छा को रोककर अपने आत्म स्वरूप में तपते हैं ऐसे तपस्वी हैं, तथा बाहर में परमागम का अभ्यास करते हुए भीतर में स्वसंवेदन ज्ञान से पूर्ण हैं ऐसे साधुओं को दूसरे साधु आते देख उठ खड़े होते हैं, परम चैतन्य ज्योतिमय परमात्म पदार्थ के ज्ञान के लिए उनकी परम भक्ति से सेवा करते हैं तथा उनको नमस्कार करते हैं। यदि कोई चारित्र व तप में अपने से अधिक ना हो तो भी सम्यग्ज्ञान में बड़ा समझकर श्रुत की विनय के लिए उनका आदर करते हैं। यहाँ यह तात्पर्य है कि जो बहुत शास्त्रों के ज्ञाता हैं, परन्तु चारित्र में अधिक नहीं हैं तो भी परमागम के अभ्यास के लिए उनको यथायोग्य नमस्कार करना योग्य है। दूसरा कारण यह है कि वे सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान में पहले से ही दृढ हैं। जिसके सम्यक्त्व व ज्ञान में दृढता नहीं है वह साधु वंदना योग्य नहीं है। आगम में जो अल्प चारित्र वालों को वंदना आदि का निषेध किया है, वह इसीलिये कि मर्यादा का उल्लंघन न हो।

समीक्षा-इस गाथा में कुंदकुंद देव ने विनय करने योग्य श्रमणों की विशेषता का वर्णन किया है। जैन धर्म गुणप्रधान एवं गुणग्राही होने के कारण गुणयुक्त गुणियों का आदर, सत्कार, विनय करने का विधान है क्योंकि “गुणः सर्वत्र पूज्यते न च रूपः न च वयः” अर्थात् गुण की सर्वत्र पूजा होती है रूप एवं आयु की नहीं। जो दीक्षा में, शिक्षा में, चारित्र में या तपादि से श्रेष्ठ है वह पहले विनय करने योग्य है अर्थात् अधिक

गुणी श्रमण की वंदनादि कम गुणवाला श्रमण करता है और उसके प्रतिफल रूप गुणाधिक श्रमण प्रतिवन्दना आदि करता है। टीकाकार ने एक विशेष सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। यथा-यदि कोई चारित्र व तप में अपने से अधिक न हो तो भी सम्यग्ज्ञान में बड़ा समझकर श्रुत के विनय के लिए उनका आदर करते हैं। यहाँ यह तात्पर्य है कि, जो बहुत शास्त्रों के ज्ञाता हैं परन्तु चारित्र में अधिक नहीं हैं, तो भी परमागम के अभ्यास के लिए उनको यथायोग्य नमस्कार करना योग्य है।

रत्नत्रय हमारे लिए वंदनीय है। वंदना करने का मुख्य उद्देश्य “वंदे तद्गुण लब्धये” है। अर्थात् उनके गुणों की प्राप्ति के लिए वंदना करता हूँ। जिसके पास जो गुण होता है उसकी सेवा से, पूजा से, वैयावृत्ति से वही गुण प्राप्त होता है। पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि-

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानीसमाश्रयः।

ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः॥ (23) इष्टो. पृ.189

अज्ञानी की सेवा उपासना अज्ञान देती है और ज्ञानियों की सेवा उपासना ज्ञान उत्पन्न कराती है क्योंकि यह बात अच्छी तरह प्रसिद्ध है कि, जिस मनुष्य के पास जो कुछ होता है उसी को वह देता है। इस सिद्धांत के अनुसार जो श्रमण ज्ञान से अधिक है उससे ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनसे जो चारित्र से या दीक्षा से भी बड़े श्रमण हैं ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनका यथायोग्य नमस्कार आदि करते हैं। आचारसार में वीरनंदी सिद्धांत चक्रवर्ती ने कहा भी है-

मान्यः सदृशनी ज्ञानी हीनोऽप्यपरसद्गुणैः।

वरं रत्नमनिष्यन्नशोभं किं नार्घ्यं हति॥ (63) आचारसार, पृ. 34

जो मुनि अपर-उत्तरगुणादि सद्गुणों से सम्पन्न नहीं है परन्तु सम्यग्दृष्टि है, ज्ञानी है तो वह श्रेष्ठ है, वंदनीय है क्योंकि श्रेष्ठ रत्न यदि संस्कार आदि से रहित है तो भी बहुमूल्य होता है।

अनागारधर्मा मृत में कहा भी है-

अथावान्तरवन्द्यान् वन्दारुं च निर्दिशति-

सूरि-प्रवर्त्युपाध्याय-गणि-स्थविर-रात्रिकान्।

यर्थाहं वन्दतेऽमानः संविग्रोऽनलसो यतिः॥ (50) अनगार धर्मा मृत, पृ. 590

आगे अन्य वंदनीय पुरुषों को बतलाकर वंदना करने वाले साधु का स्वरूप

बतलाते हैं-

संसार से भयभीत, निरालसी श्रमण आचार्य, प्रवर्तक, उपाध्याय, गणी, स्थविर तथा रत्नत्रय के विशेष रूप से आराधकों की मान रहित होकर यथायोग्य वंदना करता है।

सूरिः-सारणवारणकारो। प्रवर्ती-प्रवर्तकः। गणी-गणरक्षको राजस-भाविदितः। स्थविरः-मर्यादाकारकः। रातिकः-रत्नत्रयाधिकः। अमानः-अगर्वः।

जो संघ का पोषक, रक्षण और अनुग्रह तथा निग्रह करते हैं वे आचार्य कहे जाते हैं। जो आचार आदि में प्रवृत्ति कराते हैं उन्हें प्रवर्तक कहते हैं। जिनके पास मुनिजन शास्त्राध्ययन करते हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं। गण के रक्षक राजसभा को जानने वाले साधु को गणी कहते हैं। मर्यादा के कारक साधुओं को स्थविर कहते हैं। इन सभी की वंदना साधुओं को करना चाहिए।

उपरोक्त शास्त्रोक्त आज्ञा का उल्लंघन करके जो अहंकारी होकर सोचता है “मैं दीक्षाकाल से बड़ा हूँ, अतः दूसरे योग्य साधुओं का विनयादि नहीं करूँगा” उसके लिए मूलाचार में आचार्य वट्टकेर स्वामी ने उत्तर दिया है-

बहकालश्रमणोऽहमिति च मा गर्व कृथा यत-

मा होह वासगणणा ण तत्थ वासाणि परिगणिज्जति।

बहवो तिरतवुत्था सिद्धा धीरा विरग्गपरा समणा।। (967)

मूलाचार II, पृ. 145

‘मैं बहुत काल का श्रमण हूँ’ ऐसा गर्व मत करो क्योंकि-

वर्षों की गणना मत करो क्योंकि वहाँ वर्ष नहीं गिने जाते। बहुत से विरागी धीर श्रमण तीन रात्रि मात्र ही चारित्रधारी होकर सिद्ध हो गये हैं।

मा भवतु वर्षगणना मम प्रव्रजितस्य बहूनि वर्षाणि यतोऽयं लघुरद्य प्रव्रजित इत्येवं गर्वं मा कृध्वं, यतो न तत्र मुक्तिकारणे वर्षाणि गण्यन्ते। बहुकालश्रमण्येन मुक्तिर्भवति नैवं परिज्ञायते यस्माद्बहवस्त्रिरात्रिमात्रोषितचरित्रा अन्तर्मुहूर्तकृतचरित्राश्च वैराग्यपरा धीराः सम्यग्दर्शनादौ निष्कम्पाः श्रमणाः सिद्धा निर्मूलितशेषकर्माण इति।

वर्षों की गणना मत करो, ‘मुझे दीक्षा लिए बहुत वर्ष हो गये हैं। मुझसे यह छोटा है, आज दीक्षित हुआ है’ इस प्रकार से गर्व मत करो क्योंकि वहाँ मुक्ति के

कारण में वर्षों की गिनती नहीं होती है। बहुत काल के मुनिपन से मुक्ति होती हो ऐसा नहीं जाना जाता है क्योंकि बहुतों ने तीन रात्रि मात्र ही चारित्र धारण किया है। और तो और, किन्हीं ने अंतर्मुहूर्त मात्र ही चारित्र का वर्तन किया है किन्तु वैराग्य में तत्पर धीर-सम्यग्दर्शन आदि में निष्कम्प होने से ऐसे श्रमण अतिशीघ्र ही अशेष कर्मों का निर्मूलन करके सिद्ध हो गये हैं। आचार्य कुंदकुंद ने अष्टपाहुड में भी कहा है-

वंदामि तवसमण्णा सीलं च गुणं च बंधचेरं।

सिद्धिगमणं च तेसिं सम्मत्तेण सुद्धभावेण।। (28) (अष्टपाहुड, पृ. 471)

मैं उन मुनियों को नमस्कार करता हूँ जो तप से सहित हैं। साथ ही उनके शील को, गुण को, ब्रह्मचर्य को और मुक्ति प्राप्ति को भी सम्यक्त्व तथा शुद्ध भाव से वंदना करता हूँ।

धम्मपद में महात्मा बुद्ध ने कहा भी है-

सीलदस्सनसम्पन्नं धम्महं सच्चवादिनं।

अत्तनो कम्मकुब्बानं तं जनो कुरुते पियं। (9) (धम्मपद, पृ. 70)

जो शील और दर्शन (सम्यक्दृष्टि) से सम्पन्न धर्म में स्थित, सत्यवादी और अपने कामों को करने वाला है, उस (पुरुष) को लोग प्रेम करते हैं।

उपरोक्त सिद्धांत से यह फलितार्थ निकलता है कि जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारी होते हुए भी उनमें से जो एक में कुछ कम गुण को धारण करने वाला होता है और जिनमें उन गुणों की अधिकता होती है उनसे उस गुण की प्राप्ति के लिए उसका विनय करता है। यह विज्ञान का सिद्धांत है कि एक पात्र में 50 डिग्री तापमान का पानी है और अन्य पात्र में 70 डिग्री तापमान का पानी है। यदि दोनों पात्र का पानी एक पात्र में मिला दिया जाए तो उस मिश्रण पानी में परिवर्तन होगा और कम तापमान वाला पानी अधिक तापमान वाले पानी से ताप को ग्रहण करेगा और तब तक वह ग्रहण करेगा जब तक दोनों मिश्रण पानी का तापमान समान न हो जाए अर्थात् 60 डिग्री का तापमान न हो जाए। इसी प्रकार कम गुणी भी अधिक गुणी का तब तक विनय करता रहेगा जब तक वह उसके समान गुणी न हो जाये।

व्यक्त या शक्ति रूप से मैं हर जीव को भगवान् मानता हूँ (स्व-पर समस्त जीवों को मैं एक समान मानता हूँ)

-आ. कनकनन्दी

(चाल : तेरे प्यार का.....(एकान्त मौन में.....))

स्व-पर को मानता हूँ मैं आत्म स्वरूप,

निगोद से लेकर मानव तक।

यथा भौतिकवादी मानते सभी (ही) जड़ रूप,

तथाहि मैं मानता हूँ हर जीव चैतन्य रूप॥ (1)

अणु से लेकर जीव व ब्रह्माण्ड तक,

सभी को मानते भौतिकवादी जड़ रूप।

तथाहि मैं मानता हूँ हर जीव सच्चिदानन्द,

एकेन्द्रिय से लेकर सिद्ध जीव पर्यंत॥ (2)

अणु से लेकर संपूर्ण ब्रह्माण्ड भौतिक रूप,

हवा पानी (व) सूर्य चन्द्र निहारिका तक।

बैक्टेरिया वाइरस व पशु-पक्षी मानव,

भौतिकवादी माने सभी को भौतिक तत्त्व॥ (3)

तथाहि मैं मानता हर जीव चैतन्य,

चैतन्य दृष्टि से हर जीव (तो) समान।

भौतिक कर्म के कारण (भले) जीवों में भिन्नता,

भौतिक कर्म रहित हर जीव में समानता॥ (4)

शरीर-मन-इन्द्रियादि कर्म जनित,

इसी से परे हर जीव चैतन्य रूप।

मैं तो अध्यात्मवादी देखता हूँ चैतन्य रूप,

कर्म से परे सभी जीव अमूर्त/(चैतन्य) रूप॥ (5)

अतः मेरी दृष्टि में सभी जीव जिन/(भगवान्) रूप,

बीज में यथा सुप्त रूप में वृक्ष निहित।

(अतः) छोटा-बड़ा नहीं मेरी दृष्टि से/(में),

परम साम्य भाव आध्यात्मिक दृष्टि से/(में)॥ (6)

अतएव किसी से भी नहीं (मेरा) राग-द्वेष,
ईर्ष्या-घृणा-मोह आसक्ति विषम-भाव।
व्यवहार से जानता हूँ (मैं) विभिन्न/(विकृत) रूप,
भिन्न से परे मेरा भाव अभिन्न रूप॥ (7)

इसी से सर्वोदय-अन्त्योदय होती भावना,
मैत्री-प्रमोद-कारुण्य माध्यस्थ भावना।
समता शक्ति वात्सल्य भावना होती,
'कनक' की आध्यात्मिक विशुद्धि होती॥ (8)

ग.पु.कॉ., सागवाड़ा, दिनांक 18.01.2016, रात्रि 12.50 से 1.37

भगवान् का निश्चय स्वरूप व व्यवहार आदि रूप (निश्चय से भगवान् स्व-कर्ता किन्तु व्यवहार भक्ति से मानते हैं भक्तों के उद्धार-कर्ता) (भगवान की भक्ति का स्वरूप व फल)

(चाल : आत्मशक्ति.....)

जैन धर्म में वर्णित भगवान् (सिद्ध) का, स्वरूप असंसारी व अभौतिक।
भले समझाने के लिए दृष्टांत, हो सकते हैं सांसारिक व भौतिक॥

अमूर्तिक अनंत आकाश भी भौतिक के कारण दिखता है नीला व सीमित।
तथाहि स्व-स्व दृष्टि के कारण, भगवान् को मानते यथा है स्व-मत॥ (1)

शुद्ध जीव ही होते हैं भगवान्, जो द्रव्य-भाव नोकर्म रहित।

तन-मन इन्द्रिय राग-द्वेषादि रिक्त, क्षुधा-तृष्णा-जन्म-मरणादि रिक्त॥

भूतपूर्व संग्रह आदि व्यवहार नय से, या भक्ति भाव से होता कुछ वर्णन।
तथापि निश्चय सत्य-तथ्य दृष्टि से, न होते वे संसारी व भौतिकमय॥ (2)

अनंत गुण युक्त सर्वज्ञ होने से, उन्हें कहते हैं विश्व के प्रभु।

किन्तु न होते वे विश्व के कर्ता, होते हैं स्वयं के ही कर्ता व विभु/(प्रभु)॥

उनकी श्रद्धा से होता आत्मविश्वास, तथाहि ज्ञान-चारित्र होता सम्यक्।

जिससे बनते हैं सिद्ध भगवान् अतः, भक्ति से कहते हैं भगवान् हैं तारक॥ (3)

सिद्ध बनने से पहले भक्तों को, स्व-पुण्य से मिलता सांसारिक-वैभव।
अतः व्यवहार व लौकिक दृष्टि से, कहते हैं भगवान् देते सांसारिक-वैभव॥

भक्ति के कारण पाप नाश से, तथाहि शुभभाव व पुण्य कर्म से।
रोग संकट आदि भी दूर होते, अतः मानते ये सब हुए भगवान् से॥ (4)

लोकालोक ज्ञाता होते हैं भगवान्, अतः उन्हें कहते हैं सर्वगत।
किन्तु वे असंख्यात स्व आत्म-प्रदेश में, स्थिर रहते हैं शाश्वत॥

अनंत शक्ति से युक्त होने से, उन्हें कहते हैं सर्व शक्तिमान्।
किन्तु भौतिक शक्ति से रहित होते, नहीं करते वे विश्व निर्माण॥ (5)

मोक्ष से पूर्व दिव्य ध्वनि से, विश्व हित हेतु करते वे धर्मोपदेश।
इसलिये उन्हें विश्व-गुरु भी कहते, विश्व-उद्धारक व विश्वेश॥

अक्षय अनंत ज्ञान सुख से, युक्त हैं वे सच्चिदानंदमय।
परम अहिंसा क्षमादि से युक्त, वे होते हैं ज्ञानानंदमय॥ (6)

परम पावन व परम सत्य, परम वैभवशाली होते हैं भगवन्।
इसलिये ही तो भगवान् सबसे, श्रेष्ठ-ज्येष्ठ प्रामाणिक पूजनीय॥

उसकी पूजा आराधना भी 'वन्दे-तद्गुण-लब्धये' हेतु सदा विधेय।
स्वात्मोपलब्धि रूपी सिद्ध बनने का, 'कनकनन्दी' का परम ध्येय॥ (7)

मेरी भावना मेरा लक्ष्य है मैं प्राप्त करूँ मेरा स्व-शुद्ध स्वरूप।
क्रोध-मान-माया-लोभादि नाशकर बनना चाहूँ मैं सच्चिदानंद रूप॥

हर जीव भी शुद्ध-बुद्ध बनकर पाये आध्यात्मिक अनंत सुख।
इसी हेतु भी कनकनन्दी भाव-व्यवहार लेखनादि से करे प्रयास॥ (8)

ग.पु.कॉ., सागवाड़ा, दिनांक 27.01.2016, रात्रि 10.30 व 12.30

परमागम से स्व-शुद्धात्मा का वेदन=सम्यग्ज्ञान

(परम सम्यग्ज्ञान है-स्व-सम्वेदन ज्ञान/स्व-शुद्धात्म ज्ञान)

(चाल : छोटी-छोटी गैया.....)

“अहमेक्यो खलु सुद्धो” मैं एक हूँ, निश्चय से शुद्ध हूँ का सम्वेदन सम्यग्ज्ञान है।

“बहिरंगपरमागमाभ्यासेनाभ्यन्तरे स्वसम्वेदन ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्”

बाहर में परमागम का अभ्यास करते हुए भीतर में स्व-सम्वेदन ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।
 परम सम्यग्ज्ञान का स्वरूप जानो...परम आगम से स्व-सम्वेदन मानो...
 आगम अध्ययन तो बाह्य कारण...स्व-शुद्धात्मा का वेदन है सम्यग्ज्ञान...(ध्रुव)...
 आगम अभ्यास द्वारा होता स्व-ज्ञान...'मैं' हूँ शुद्ध-बुद्ध-आनंद घन...
 द्रव्य-भाव-नोकर्मों से भी परे...तन-मन-इन्द्रिय कषाय परे...
 ऐसा जब होता आत्मा का वेदन...वह ही निश्चय से होता सम्यग्ज्ञान...
 यदि न होता ऐसा स्व-सम्वेदन...तब न होता निश्चय सम्यग्ज्ञान...(1)...
 यथा दर्पण में प्रतिबिंब दिखता...दर्पण से/(में, द्वारा) अक्ष प्रतिबिंब को दिखता...
 अंध न दिखे यथा प्रतिबिंब को...सम्वेदना रिक्त मोही न दिखे/(जाने) स्वयं को...
 मोही का आगम ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान...आगम से भी न करता स्व-सम्वेदन...
 यथा चम्मच को स्वाद न आता...तथाहि मोही को स्व-सम्वेदन न होता...(2)...
 यथा शक्कर के बारे में कोई पढ़ता...लेखन भाषण व प्रशंसा करता...
 बिना चखे वह स्वाद न जानता...तथा स्व-सम्वेदन बिन आत्मा न जानता...
 आगम वर्णित द्रव्य-तत्त्व-पदार्थ...मतिज्ञान से भी जानता है अर्थ...
 स्व-सम्वेदन बिन न होता सुज्ञान...सुश्रुत ज्ञान न होता जो आत्म-सम्वेदन...(3)...
 भव्यसेन मुनि का न था सम्यग्ज्ञान...पढ़कर भी वह सकल श्रुतज्ञान...
 द्वादशांग-चतुर्दश पूर्व भी पढ़ा...स्व-सम्वेदन बिन सुज्ञानी न बना...
 लौकिक ज्ञान समान नहीं है सुज्ञान...पढ़ना लिखना ही नहीं सुज्ञान...
 आध्यात्मिक ज्ञान है स्व-आत्मज्ञान...स्व-आत्मज्ञान बिन सभी कुज्ञान...(4)...
 आगम ज्ञान या देव-गुरु का ज्ञान...स्व-सम्वेदन बिन सभी कुज्ञान...
 गणित विज्ञान कानून संविधान...स्व-सम्वेदन बिन सभी कुज्ञान...
 स्व-शुद्धात्म ज्ञान ही है परम ज्ञान...इसी हेतु देव-शास्त्र-गुरु का ज्ञान...
 अतएव स्व-शुद्धात्म वेदन विधेय...इसी हेतु 'कनक' करे नित्य स्वाध्याय...(5)...

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 04.02.2016, रात्रि 8.40

(मेरी (आ. कनकनन्दी) 36वीं दीक्षा जयंती की पूर्व संध्या पर स्व-सम्वेदन रूपी
 स्वाध्याय हेतु)

(यह कविता श्रमणी आर्यिका सुवत्सलमती के कारण बनी।)

मैं हूँ मोक्षमार्ग एवं मोक्ष (मैं हूँ एक निश्चय से शुद्ध ज्ञानदर्शनमय अमूर्तिक द्रव्य)

-आ. कनकनन्दी

गाथा- “अहमेक खलु शुद्ध दंसणणाणमय सयारूवी”

(चाल : छोटी-छोटी गैया.....)

मैं हूँ एक निश्चय से शुद्ध, ज्ञानदर्शनमय अमूर्तिक द्रव्य।

परमाणु नहीं एक भी मेरे अंदर, यह मेरा स्वरूप है द्रव्यार्थिक।।

द्रव्यदृष्टि से मैं एक जीव द्रव्य, जीव होता है चैतन्यमय।

चेतन होता है अमूर्तिकमय, दर्शनज्ञानादि अनंतगुणमय।।

ऐसा श्रद्धान होता सम्यग्दर्शन, जो आत्मा का शुद्ध अमूर्तिक गुण।

संज्ञी जीव को होता सम्यग्दर्शन, मन द्वारा उत्पन्न मन से भिन्न।।

उपशम क्षयोपशम व क्षय से, दर्शनमोहनीय अनंतानुबंधी के।

तथापि कर्म से परे सम्यक्त्व, अमूर्तिकमय शुद्धात्मा भाव।।

देव-शास्त्र-गुरु का होता श्रद्धान, उनसे भिन्न/(परे) निज शुद्धात्मा गुण।

द्रव्य तत्त्वादि/(पदार्थ) का होता श्रद्धान, उनसे परे निज शुद्धात्म गुण।।

योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल के द्वारा, पंचलब्धियों के संयोग द्वारा।

होता सम्यक्त्व विशुद्धि द्वारा, तो भी सम्यक्त्व अन्य से न्यारा।।

सम्यक्त्व से होता सम्यग्ज्ञान स्व-संवित्ति रूप निज का गुण।

आगम अध्ययन भी होता कारण, निश्चय से निज आत्म गुण।।

दोनों से युक्त होता सम्यक् चारित्र तीनों के योग से बने मोक्षमार्ग।

तीनों की पूर्णता से होता मोक्ष, शुद्ध-बुद्धमय जीव का स्वरूप।।

सम्यक्त्व से लेकर मोक्ष पर्यंत, जीव के गुण ही होते गर्भित।

अतएव स्वयं जीव होता प्रमुख, अन्य सभी सहयोगी बाह्य निमित्त।।

अतएव स्व का स्वयं कर्ता-धर्ता, स्वयं का स्वयं ही उद्धार कर्ता।

इसी हेतु अनिवार्य होते निमित्त, स्व-उपलब्धि ही 'कनक' का ध्येय।।

(मेरी (कनकनन्दी) 36वीं दीक्षा जयंती के उपलक्ष्य में आत्मोपलब्धि हेतु यह कविता बनी।)

ग.पु.कॉ., सागवाड़ा, दिनांक 05.02.2016, प्रातः 7.10

संदर्भ-

ए ए तिण्णि वि भावां हंवति जीवस्य अक्खयामेया।

तिण्हं वि सोहणत्थे जिणभणियं दुवियं चारित्तं।।4।। (चारित्र पाहुड़)

यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप तीन भाव जीव के अक्षय, अनंत, स्वभाव स्वरूप हैं। इन तीनों भावों की विशुद्धि के लिए जिनेन्द्र भगवान् ने व्यवहार एवं निश्चय दो प्रकार चारित्र कहे हैं।

सम्मत्त चरण शुद्धा संजम चरणस्स जइ व सुपसिद्धा।

णाणी अमूढ दिट्ठी अचिरे पावति निव्वाणं।।3।। (चारित्र प्राभृत्त)

सम्यक्त्व संबंधी संपूर्ण दोषों से रहित सम्यक्त्व गुण से अलंकृत जो होता है वह सम्यक् चारित्र से विशुद्ध होता है। यह सम्यक्त्वाचरण चारित्र चतुर्थ गुणस्थान में होता है। चरणानुयोग अनुसार चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र नहीं होने पर भी अष्टमद, शंकादि अष्टदोष, षट् अनायतन आदि का त्याग एवं निशंक आदि अष्ट-अंग, संवेगादि अष्ट गुणादि सहित होना ही इस गुणस्थान संबंधी चारित्र है इसको ही सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहते हैं। सम्यक्त्वाचरण सहित जो महामुनिश्वरों का महाव्रतादि रूप संयमाचरण से अत्यंत प्रकृष्ट रूप से सर्वलोक सुप्रसिद्ध है। ऐसे महान् चारित्र साधक निर्वाण को स्वल्प काल में ही प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ पर चारित्र मुख्य होने पर भी सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान समग्रता से कहा गया है।

सीलं रक्खताणं दंसण-सुद्धाणं दिढ चरित्ताणं।

अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्त चित्ताणं।।12।। (शीलपाहुड़)

जो शील के संरक्षक हैं, दर्शन से विशुद्ध हैं, दृढ़ चारित्र निष्ठ हैं, विषय वासना से विरक्त चित्त वाले हैं उसके लिए निर्वाण ध्रुव सुनिश्चित है।

सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोवाणं।।20।। (शीलपाहुड़)

शील, विषय कषाय का परम शत्रु है अर्थात् शील पालने से शील के प्रभाव से विषय कषाय रूप शत्रु विध्वंस हो जाते हैं। शील मोक्ष महल के लिए सोपान स्वरूप है।

निश्चय व्यवहार मोक्ष मार्ग

मोक्ष कार्य एक होने के कारण उसके कारण भी रत्नत्रयात्मक एक ही है। परन्तु पात्र की अपेक्षा रत्नत्रय व्यवहार और निश्चय भेद से दो प्रकार के हैं। एक निचली

भूमिका में स्थित साधक अपेक्षा भेदात्मक रत्नत्रय, व्यवहार रत्नत्रय या व्यवहार मोक्षमार्ग है। उपरितन भूमिका स्थित साधक अपेक्षा निश्चय रत्नत्रय या अभेद रत्नत्रय या निश्चय मोक्षमार्ग है। निरतिशय सप्तम गुणस्थान या श्रेणी आरूढ़ से पहले-पहले गुणस्थान तक भेदात्मक या व्यवहार रत्नत्रय है। सातिशय सप्तम गुणस्थान या श्रेणी आरोहण के समय महामुनियों को निश्चय रत्नत्रय या अभेद रत्नत्रय होता है। इसी प्रकार मोक्षमार्ग निश्चय एवम् व्यवहार की अपेक्षा से दो भेद हैं-

निश्चय व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्ग द्विधा स्थितः।

तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनं।।2।। (तत्त्वार्थसार अधिकार 8 पृ.58)

निश्चय एवं व्यवहार रूप दो प्रकार के मोक्षमार्ग हैं। निश्चय मोक्षमार्ग साध्य स्वरूप है एवं व्यवहार मोक्षमार्ग साधन स्वरूप है।

साधन के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती है। समर्थ साधन ही परिवर्तित होकर साध्यरूप हो जाता है। जैसे बीज साधन है तो वृक्ष साध्य है। बिना बीज के वृक्ष संभव नहीं है। उसी प्रकार बिना व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग संभव नहीं है; इसीलिये व्यवहार मोक्षमार्ग कारण है और निश्चय मोक्षमार्ग कार्य है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण शिव मग सो दुविध विचारो।

जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो व्यवहारो।।1।। (छहढाला तृतीय ढाल)

सम्महंसण पाणं चरणं मुक्खस्स कारणं जाणो।

ववहारा णिच्छयदो तत्तिय मइओ णिओ अण्णा।।39।।

(तृतीय अधिकार वृहद् द्रव्य संग्रह)

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को मोक्ष का कारण जानो तथा निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्रस्वरूप जो निजात्मा है उसको मोक्ष का कारण जानो।

“वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत षड् द्रव्य पञ्चास्तिकाय सप्त तत्त्व, नव पदार्थ सम्यक् श्रद्धान ज्ञान व्रतानुष्ठान विकल्पो व्यवहार मोक्षमार्गः। निजनिरञ्जन शुद्धात्म, तत्त्व, सम्यक्, श्रद्धान ज्ञानानुचरणैकाग्र परिणति रूपो निश्चय मोक्षमार्गः।” अथवा “धातुपाषणोऽग्निवत्साधको व्यवहार मोक्षमार्गः। सुवर्ण स्थानीय निर्विकार स्वोपलब्धि साध्यरूपो निश्चय मोक्षमार्गः।”

श्री वीतराग सर्वज्ञ ने कहे हुए जो छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात

तत्त्व और नव पदार्थ हैं इनका भले प्रकार श्रद्धान करना, जानना और व्रत आदि का आचरण करना इत्यादि विकल्प जो है सो तो व्यवहार मोक्षमार्ग है और जो अपने निरंजन शुद्ध आत्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण में एकाग्र परिणति रूप है वह निश्चय मोक्षमार्ग है अथवा धातु पाषाण के विषय में अग्नि के सदृश्य जो साधक है वह तो व्यवहार मोक्षमार्ग है तथा सुवर्ण के स्थानापन्न निर्विकार जो निज आत्मा है उसके स्वरूप की प्राप्ति रूप जो साध्य है उस स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग है।

भेद रत्नत्रयात्मक व्यवहार मोक्षमार्ग साधक होता है। अभेद रत्नत्रयात्मक निश्चय मोक्षमार्ग साध्य होता है। सुवर्ण और सुवर्ण पाषाण के समान साध्य साधक भाव है। जैसे सुवर्ण पाषाण ही अग्नि आदि से तपते-तपते विशुद्ध होते-होते शुद्ध सुवर्ण रूप परिणत हो जाता है उसी प्रकार व्यवहार रत्नत्रय ही आध्यात्मिक साधना से शुद्ध होते-होते अभेद रत्नत्रयात्मक रूप परिणत कर लेता है। इससे सिद्ध होता है कि बिना सुवर्ण पाषाण से शुद्ध सुवर्ण की उपलब्धि असंभव है। उसी प्रकार व्यवहार रत्नत्रय बिना निश्चय रत्नत्रय की उपलब्धि भी असंभव है। व्यवहार रत्नत्रय या शुभोपयोग से पापकर्मों का संवर होता है। सातिशय पुण्यकर्म का आस्रव होता है तथा आस्रव से भी अनंत गुणित कर्मनिर्जरा होती है इसलिये शुभ-परिणामात्मक भेद रत्नत्रय भी संसार विच्छेद के लिए कारण होता है। जैनागम के प्रसिद्ध सिद्धांत शास्त्र जयधवला में कलिकाल सर्वज्ञ, तार्किक चूड़ामणि आचार्य वीरसेन स्वामी इस सिद्धांत को सिद्ध करते हुए जयधवला के प्रथम चरण में ही कहते हैं-

“सुह-सुद्ध परिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।”

(जयधवला पु. 1 पृ. 5)

शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाये तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता है।

शंका-आध्यात्मिक शास्त्र में तो व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है इसलिये व्यवहार नयाश्रित, व्यवहार चारित्र अभूतार्थ है इसलिये व्यवहार रत्नत्रय भी मोक्षमार्ग के लिए अभूतार्थ हैं क्योंकि कुंदकुंद स्वामी ने कहा है-

व्यवहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।

भूदत्थ मस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो।।13।। (समयसार)

व्यवहार अभूतार्थ है अर्थात् विशेषता की दृष्टि में रखकर विषमता को पैदा करने वाला है किन्तु शब्दनय भूतार्थ है क्योंकि वह समता को अपनाकर एकत्व को लाता है। समता को अपनाकर ही सम्यग्दृष्टि अर्थात् समीचीनतया देखने वाला होता है।

समाधान-ठीक है। आपका कहना भी नय सापेक्ष से यथार्थ है परन्तु व्यवहार नय एवं व्यवहार नयाश्रित व्यवहार रत्नत्रय किसके लिए, कब अभूतार्थ है वह भी अनेकांत के प्रकाश से जान लेना चाहिए। इस गाथा की टीका करते हुए आध्यात्मिक ग्रंथियों को सुलझाने वाले जयसेनाचार्य कहते हैं कि-

‘व्यवहारो अभूदत्थो भूदत्थोदेसिदो’ व्यवहार नय अभूतार्थ भी है और भूतार्थ भी है, इसे दो प्रकार का कहा गया है। केवल व्यवहार नय ही दो प्रकार का नहीं, किन्तु सुद्वणओ निश्चय भी शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय के भेद से दो प्रकार है, ऐसा गाथा में आये हुए ‘दु’ शब्द से प्रकट होता है।

यहाँ यह तात्पर्य है कि जैसे कोई ग्रामीण पुरुष तो कीचड़ सहित तालाब आदि का जल पी लेता है किन्तु नागरिक विवेकी पुरुष तो उसमें कतक फल निर्मली डालकर उसे निर्मल बनाकर पीता है, उसी प्रकार स्वसंवेदन ज्ञान रूप भेद भावना से रहित जो मनुष्य है वह तो मिथ्यात्व और रागादि रूप विभाग परिणाम सहित ही आत्मा का अनुभव करता है। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि (सयंत) मनुष्य होता है वह तो अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधि के बल से कतक स्थानीय निश्चय नय का आश्रय लेकर शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है।

भूतार्थनय का आश्रय करने वाला सामान्य जीव नहीं हो सकता है। सम्यग्दृष्टि से लेकर निरतिशय सप्तम गुणस्थान तक निश्चयनय को जानते हुए भी मानते हुए भी निश्चयनय से प्रतिपादित भावानुकूल वह परिणमन आचरण नहीं कर सकता है। श्रेणी आरोहण करने वाले महामुनि ही ऐसा परिणमन करते हैं।

उपदेश ग्रहण करने वाले पात्र का कर्तव्य

एवं सम्यग्दर्शन बोध-चारित्र त्रयात्मको नित्यम्।

तस्याऽपि मोक्षमार्गो, भवति निषेधो यथाशक्ति॥२०॥

तस्याऽक्रमकथनस्य गुरोः यथाशक्तिं अनतिक्रम्य इति यथाशक्ति अक्रमकथनात् दर्शन ज्ञान-चरित्रलक्षणे मोक्षमार्गे निषेधो भवति यतः कारणात् आत्मा तु नित्यं सदैव

सम्यग्दर्शन-बोध-चारित्र त्रयात्मकः वर्तते। अतः रत्नत्रयरूपं निश्चयमार्गं व्यवहारमार्गं कथनीयमित्यर्थः।

And, for him also the three-fold path of liberation, consisting of right belief, right knowledge, and right conduct, is to be constantly followed according to this capacity.

व्याख्या-भावानुवाद-आत्मा रत्नत्रय स्वरूप है। अतः मोक्षमार्ग तथा मोक्ष भी रत्नत्रयात्मक है। इसलिए मोक्ष के लिए रत्नत्रय की आराधना यथाशक्ति करनी चाहिए। परन्तु गुरुओं को निश्चय मोक्षमार्ग तथा व्यवहार मोक्षमार्ग का कथन करना चाहिए। इसलिए गुरु को क्रम कथन को यथाशक्ति उल्लंघन नहीं करना चाहिए। यथाशक्ति अक्रम कथन से दर्शन, ज्ञान, चारित्रात्मक मोक्षमार्ग का निषेध हो जाता है क्योंकि आत्मा सदैव रत्नत्रयात्मक है।

समीक्षा-मोक्ष प्राप्ति का पूर्ण अद्वितीय मार्ग रत्नत्रय ही है। अनन्त-अनन्त शिष्यों ने इस मार्ग पर चलते हुए मोक्ष को प्राप्त किया है। वे अनन्त ज्ञान को प्राप्त करके पूर्ण प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करके रत्नत्रयात्मक मार्ग को ही यथार्थ मार्ग और इससे व्यतिरिक्त कुमार्ग, दुःख का मार्ग एवं संसार का मार्ग कहा है। आचार्य प्रवर समंतभद्र स्वामी ने कहा भी है-

सद्दृष्टिज्ञान वृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदुः।

यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति।।३।।

सद्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ही धर्म है, मोक्ष का मार्ग है इससे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं कुचारित्र ही कुधर्म है, दुःख का मार्ग है, संसार का मार्ग है ऐसे धर्म के ज्ञाता धर्म के प्रभु ने बताया हैं। आचार्य उमास्वामी ने भी मोक्ष प्रतिपादक शास्त्र का प्रतिपादन करते हुए प्रथम पंक्ति में बताया है कि-

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः।।१।। (तत्त्वार्थसूत्र)

Right belief (right) knowledge (right) conduct, these (together constitute) the path to liberation.

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र इन तीनों का सम्यक् संयोग रूप त्रयात्मक (रत्नत्रयः) मोक्ष का मार्ग है।

“Self-reverence, self knowledge and self control.

These three alone lead life to saveign power.”

आध्यात्मिक दर्शन के समर्थ प्रचार प्रसारक कुंदकुंद स्वामी आध्यात्मिक जगत्

की अद्वितीय कृति समयसार में भी विमुक्ति मार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं-

जीवादी सद्वहणं सम्मतं तेसिमधिगमो णाणं।

रागादीपरिहरणं चरणं ऐसो दु मोक्खपहो।।62।।

सम्यग्दर्शन-

जीवादि सद्वहणं सम्मतं=जीवादिनवपदार्थानां विपरीताभिनिवेशरहितत्वेन
श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं।

जीवादि सद्वहणं सम्मतं=जीवादि नव पदार्थों का विपरीत अभिप्राय से रहित
जो सही श्रद्धान है, वही सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्ज्ञान-

तेसिमधिगमो णाणं=तेषामेव संशयविमोहविभ्रमरहितत्वेनाधिगमो निश्चयः
परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानं।

तेसिमधिगमो णाणं=उन्हीं जीवादि पदार्थों का संशय-उभयकोटिज्ञान, विमोह
विपरीत एक कोटिज्ञान, विभ्रम-अनिश्चित ज्ञान, इन तीनों से रहित जो यथार्थ अधिगम
होता है, निर्णय कर लिया जाता है, जान लिया जाता है, वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

सम्यक् चरित्र-

रागादि परिहरणं चरणं=तेषामेव सम्बन्धित्वेन रागादि परिहारश्चारित्रं।

रागादि परिहरणं चरणं और उन्हीं के संबंध से होने वाले जो रागादिक विभाव
होते हैं उनको दूर हटा देना सो सम्यक् चरित्र कहलाता है।

व्यवहार मोक्षमार्ग-

एसो दु मोक्खपहो इत्येष व्यवहार मोक्षमार्गः।

यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

निश्चय-मोक्षमार्ग-

अथवा तेषामेव भूतार्थनाधिगतानां पदार्थानां शुद्धात्मनः सकाशात्
भिन्नत्वेन सम्यगवलोकनं निश्चयः सम्यक्त्वम्। तेषामेव सम्यक् परिच्छित्तिरूपेण
शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चयः सम्यग्ज्ञानम्। तेषामेव शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चयं
कृत्वारागादि विकल्प रहितत्वेन स्वशुद्धात्मन्यवस्थानां निश्चयं चरित्रमिति निश्चय
मोक्षमार्गः।

भूतार्थनय के द्वारा जाने हुए उन्हीं जीवादि पदार्थों को अपनी शुद्ध-आत्मा से

पृथक् अन्य में ठीक-ठीक अवलोकन करना निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है और जीवादि पदार्थों को अपनी शुद्धात्मा से पृथक् रूप में जानना सो निश्चय सम्यग्ज्ञान है और उनको शुद्धात्मा से भिन्न जानकर रागादि रूप विकल्प से रहित होते हुए अपनी शुद्धात्मा में अवस्थित होकर रहना, निश्चय सम्यक्चारित्र है, इस प्रकार यह निश्चय मोक्षमार्ग हुआ। नेमीचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती द्रव्यसंग्रह में निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का वर्णन करते हुए निम्न प्रकार बताते हैं-

सम्महसण णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।

ववहारा णिच्छायदो तत्तियमइओ णियो अप्पा।।39।। (द्रव्यसंग्रह)

सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को व्यवहार से मोक्ष का कारण जानो तथा निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चरित्र स्वरूप जो निज आत्मा है, उसको मोक्ष का कारण जानो।

रत्नत्रय व्यवहार मोक्षमार्ग है। निश्चय से रत्नत्रय रूप परिणत आत्मा ही मोक्षमार्ग है। स्वयं आत्मा ही निश्चय से मोक्षमार्ग किस प्रकार होता है? इसका प्रतिउत्तर देते हुए आचार्यश्री ने कहा है-

रणत्तयंण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्हि।

तम्हा तत्तियमइयो होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा।। (40) (द्रव्य.)

The three jewels (i.e. perfect knowledge and perfect conduct) do not exist in any other in substance, excepting the soul. Therefore, the soul surley is the cause of liberation.

आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता, इस कारण उस रत्नत्रयमयी जो आत्मा है, वही निश्चय से मोक्ष कारण है।

कुंदकुंद स्वामी ने भी यह भेदाभेदात्मक निश्चय व्यवहारात्मक मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहा है।

दंसण णाण चरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणां णिच्चं।

ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चव णिच्छयदो।।

साधु को व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र इन तीनों को भिन्न-भिन्न समझकर नित्य-सदा ही इनकी उपासना करनी चाहिए। अपने उपयोग में लाना चाहिए। किन्तु शद्ध निश्चयनय से वे तीनों एक शुद्धात्मा स्वरूप ही हैं। उससे भिन्न नहीं हैं ऐसा समझना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि पञ्चेन्द्रियों के विषय और क्रोधादि

कषायों से रहित जो निर्विकल्प समाधि है उसमें ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों होते हैं।

रत्नत्रय से बंध क्यों नहीं होता?

दर्शनमात्मविनिश्चिति, रात्म-परिज्ञानमिष्यते बोधः।

स्थितिरात्मनि चारित्रं, कुत एतेभ्यो भवति बन्धः॥1216॥

आत्म-विनिश्चितिः दर्शनं भवति। आत्मनः विनिश्चितिः निश्चयस्वभावो दर्शनं सम्यक्त्वं भवति। आत्म-परिज्ञानं बोधः इष्यते। आत्मनः परिज्ञानं परिसामस्त्येन बोध चिंतनं बोधो ज्ञानं इष्यते उच्यते। आत्मनि स्थितिः चारित्रं। आत्मनि स्थिति केवलरूपं स्थानं चारित्रं भवति। एतेभ्यो बन्धः कुतः भवति। एतेभ्यो दर्शन-बोध-चारित्रेभ्यो कुतः कस्माद्धेतोः कर्मणो बन्धो भवति। सम्यक्त्वादेः बंधो न भवतीत्यर्थः।

Right belief is conviction in one's own self, knowledge is a knowledge of one's own self; conduct is absorption in one's own self. How can there be bondage by these.

व्याख्या भावानुवाद-दर्शन बोध, चारित्र से कर्मबंध नहीं होता है ऐसा कहा गया है। यह किस प्रकार है? ऐसा प्रश्न करने पर दर्शन आदि का स्वरूप बता रहे हैं।

आत्मा की विनिश्चिति/प्रतीति/श्रद्धा सम्यग्दर्शन होता है। अर्थात् आत्मा के निश्चय स्वभाव का दर्शन सम्यक्त्व होता है। आत्मा का समग्रता से परिज्ञान/चिन्तन/बोध को ज्ञान कहते हैं। आत्मा में ही स्थिर हो जाना, उसमें रमण करना चारित्र है। ये तीनों आत्मा के स्वभाव होने के कारण इससे कर्मबंध किस प्रकार होगा? अर्थात् यह आत्मा का स्वभाव होने से स्वभाव में बंध नहीं होता है किन्तु विभाव में बंध होता है।

ज्ञानानंद-समता रस मैं पाऊँ/पान करूँ

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : पायो जी मैंने राम रतन धन पायो.....)

पायो/(पीयो) जी मैंने ज्ञानानंद रस/(समता रसायन, आत्मानंद रस) पायो/(पीयो)SS.. जिससे परे न और कोई रस/(सुख)SSS मैं अनुभव से पायोSSS पायोजी...(स्थायी).... जिसे पाने हेतु चक्रवर्ती भीSSS षट्खण्ड वैभव त्यागोSSS

तीर्थकर मुनि मौन में रहकरऽऽऽ सतत निजातम ध्यायोऽऽऽ
/(ख्याति-पूजा-लाभ त्यागोऽऽऽ) पायो...(1)...

आत्मा में ही मेरे अनंत वैभवऽऽऽ ज्ञान दर्शन सुख वीर्यऽऽऽ
अनंत शांति-तृप्ति भी मुझमेंऽऽऽ साधन-साध्य भी मुझमेंऽऽऽ
/(मोक्षमार्ग-मोक्ष भी मुझमेंऽऽऽ) पायो...(2)...

यथा तड़पती पीड़ा से मछलीऽऽऽ जल से होकर पृथक्ऽऽऽ
भले उसे रखो स्वर्ण-फर्श मेंऽऽऽ तथापि न मिले कुछ सुखऽऽऽ
/(ज्ञानानंद परे मिले (मुझे) दुःखऽऽऽ)/(समता रस परे दुःखऽऽऽ) पायो...(3)...

राग द्वेष मोह काम क्रोध मदऽऽऽ ईर्ष्या-तृष्णा-वैर-विरोधऽऽऽ
ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि चाहऽऽऽ भोग-आकांक्षा निदानऽऽऽ
/(सभी हैं अनात्म स्वभावऽऽऽ)/(इनसे न मिले आत्म-वैभवऽऽऽ)
(अतः ये सर्व दुःख भावऽऽऽ) पायो...(4)...

पर निन्दा अपमान तेरा मेरा भावऽऽऽ संकल्प-विकल्प-संकलेशऽऽऽ
अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा भावऽऽऽ दबाव-प्रलोभन-तनावऽऽऽ
/(सभी हैं विकार स्वरूपऽऽऽ)/(समता रस/(ज्ञानानंद) के विनाशकऽऽऽ) पायो...(5)...

विज्ञापन पत्रिका टी.वी. प्रसारणऽऽऽ माईक मञ्च पण्डाल निमंत्रणऽऽऽ
गाजा बाजा साज सज्जाऽऽऽ भीड़ जयकार (आरती) पूजाऽऽऽ
/(मद से रहूँ मैं दूजाऽऽऽ)/(स्वात्मा की करूँ मैं पूजाऽऽऽ)
/(शांति रस पान करूँ सदा) पायो...(6)...

एकांत शांत प्रदूषण मुक्तऽऽऽ ग्राम-जंगल-शहर निवासऽऽऽ
ध्यान-अध्ययन-मौन युक्तऽऽऽ आत्म रमण करूँ सततऽऽऽ
/(मुझमें निवास (करूँ) सततऽऽऽ) पायो...(7)...

अनात्म सर्व विकार त्यागकरऽऽऽ स्व-शुद्धात्मा ही मैं ध्याऊँऽऽऽ
अध्ययन-मनन-कथन करूँऽऽऽ 'कनक' स्व-आत्म पाऊँ/(वरूँ)ऽऽऽ
/('कनक' सच्चिदानंद बनूँऽऽऽ)/(शुद्ध-बुद्ध-आनंद बनूँऽऽऽ) पायो...(8)...

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 29.01.2015, प्रातः 7.20

सन्दर्भ-

ध्यान-योग्य, योग्यता एवं परिस्थिति

अभवच्चित्तविक्षेपः एकान्ते तत्त्वसंस्थितः।

अभ्यस्येदभियोगेन, योगी तत्त्वं निजात्मनः॥ (36)

He in whose mind no disturbances occur and who is established in the knowledge of the self-such an ascetic should engage himself diligently in the contemplation of his soul, in a lonely place.

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है-हे गुरुदेव! अभ्यास क्यों करना चाहिए? अर्थात् शिष्य की जिज्ञासा यह है कि अभ्यास का प्रयोग उपाय क्या है? बार-बार सुप्रसिद्ध स्थान, नियम आदि में प्रवृत्त होना अभ्यास है। इस संवित्ति रूप जिज्ञासात्मक शंका का समाधान आचार्यश्री शिष्य के बोध के लिए करते हैं।

संयमी-योगी को आलस्य निद्रादि को निरसन (जय) करके योग्य शून्य गृहादि में स्वात्मा का अभ्यास करना चाहिए। बाल्य मनुष्यादि रहित एकांत स्थान में तथा अंतरंग राग-द्वेषादि रहित एकांत-भाव से योगी को निजात्मा का ध्यान करना चाहिए। क्योंकि दोनों प्रकार के एकांत से रहित अवस्था में स्थित होने पर विक्षोभ उत्पन्न होता है जिससे आत्म-ध्यान नहीं हो पाता है।

समीक्षा-अनादिकाल से यह जीव स्व-स्वरूप से बहिर्मुख होकर इन्द्रियाँ एवं मन के माध्यम से स्व-शक्ति का विघटन, बिखराव, हास एवं क्षय कर रहा है। इसको ही बाह्य प्रवृत्ति, कुध्यान, अपध्यान, आर्तध्यान, रौद्रध्यान, संसारवर्धिनीध्यान कहते हैं। बाह्य से निवृत्ति होकर स्व में रमण रूप प्रक्रिया को ही सुध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान, योग, लीनता, समाधि आदि से अभिहित करते हैं।

इच्छा निरोधः ध्यानंः, इच्छा का सम्यक् रूप से निरोध करना ध्यान है। उमास्वामी आचार्यश्री ने मोक्षशास्त्र में कहा भी है-

‘एकाग्र चिन्ता निरोधो ध्यानं’ चित्त को अन्य विकल्पों से हटाकर एक ही विषय में लगाने को ध्यान कहते हैं। महर्षि पतंजलि ने भी ध्यान का लक्षण कहते हुए पतंजलि योग दर्शन के प्रथम चरण में ही कहा है-

“योगश्चित्तवृत्ति निरोधः”

चित्त की वृत्तियों का जो निरोध है वह योग कहा जाता है। गीता में श्री कृष्ण ने कहा है-समत्व योग उच्यते (2.48) बुद्धि की समता या समत्व को ही योग (ध्यान)

कहते हैं अथवा “योगः कर्मसु कौशलम्” (2.50) अर्थात् शुभाशुभ से मुक्त होकर कर्म करने की कुशलता को योग कहते हैं।

उपरोक्त सिद्धांत से यह सिद्ध होता है कि मन (बुद्धि, चित्त) की प्रवृत्ति अन्य-अन्य विषय से हटकर एक विषय में स्थिर भाव से केन्द्रीभूत हो जाना, लीन हो जाना, स्थिर हो जाना ही ध्यान है। अतएव ध्याता को ध्यान करने के लिए जो अनिवार्य तथा प्रथम एवं प्रधान नियम है उसका वर्णन आचार्य पूज्यपाद स्वामी समाधि तंत्र में निम्न प्रकार कहे हैं-

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।

यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते।।95।।

मनुष्य की बुद्धि में जो बात दृढ़ता से बैठ जाती है उसको उसी विषय का श्रद्धान या रूचि विश्वास हो जाता है और जहाँ रूचि पैदा हो जाती है, उसी विषय में सोते-जागते तथा पागलपन या मूर्छित दशा में भी उसका मन रमा रहता है।

आत्मदृष्टा पुरुष की बुद्धि में आत्मा समाया हुआ होता है। इस कारण सब दशा में उसका मन अपने आत्मा में ही लगा रहता है। बहिरात्मा की बुद्धि अपने शरीर की ओर लगी रहती है, अतः अपने शरीर को ही अपने सर्वस्व (आत्मा) की श्रद्धा से देखा करता है, इसी कारण सोते-जागते आदि सभी अवस्थाओं में उसका मन शरीर में ही लीन रहा करता है।

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।

यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः।।96।। (समाधि तंत्र)

मनुष्य की बुद्धि में जो बात ठीक नहीं समाती उस बात में उसको श्रद्धा रूचि नहीं होती और जिस विषय की श्रद्धा नहीं होती है उस विषय में उसका मन भी लीन नहीं होता। तदनुसार अंतरात्मा की बुद्धि में अपनी आत्मा समायी रहती है। अतः शरीर में उसकी रूचि नहीं होती इसी कारण से वह आत्मा में लीन रहता है, शरीर में उसकी रूचि नहीं होती। इसके विपरीत बहिरात्मा की समझ में शरीर के सिवाय आत्मा और कुछ नहीं है। अतः उसकी श्रद्धा आत्मा में नहीं होती। इसी कारण उसका मन भी आत्मा में लीन नहीं होता। यह जीव अनादिकाल से संसार शरीर भोग, उपभोग इन्द्रिय विषय के राग-रंग में रचा-पचा अनुभव किया सुना है। इसलिये वह विषय अनुभूत होने के कारण स्व-स्वरूप सबसे अधिक निकटवर्ती होने पर भी मन की प्रवृत्ति स्वयंमेव सहज रूप से विषयों की ओर हो जाती है। परन्तु इससे विपरीत स्व-स्वरूप का भान अनुभव नहीं होने के कारण स्व-स्वरूप सबसे अधिक निकटवर्ती होने पर

भी मन की प्रवृत्ति स्व में सरलता से नहीं होती है। इसलिये बाह्य द्रव्यों से चित्त को हटाकर स्व में स्थिर करने के लिए स्वयं का मनन-चिंतन परिज्ञान सतत करना चाहिए। पूज्यपाद स्वामी ने समाधि तंत्र में कहा है-

तदब्रूयात्तत्परान्यृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।

येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं ब्रजेत्॥52॥

आत्मा श्रद्धालु को वह आध्यात्मिक चर्चा करनी चाहिए, वह आत्मा सम्बन्धी ही बातें अन्य विद्वानों से पूछनी चाहिए। उसी आध्यात्मिक विषय की चाह रखनी चाहिए। उसी आध्यात्मिक विषय में सदा तत्पर, तैयार या उत्सुक रहना चाहिए। जिससे अपनी आत्मा का अज्ञान भाव छोड़कर ज्ञान भाव प्राप्त हो।

गीता में कर्मयोगी नारायण श्री कृष्ण ने भी ध्यान के विषय में वर्णन करते हुए कहा है-

अविद्या, राग-द्वेष इन्द्रिय विषय में रमायमान चित्त सर्वदा चंचल एवं क्षुभित रहता है इसलिये मन को स्थिर करना शीघ्र सहज साध्य नहीं है। मन को स्थिर करने के लिए जब श्री कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं तब अर्जुन श्री कृष्ण को निम्न प्रकार अपना भाव प्रगट करते हैं-

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥34॥ अध्याय 6

हे कृष्ण यह मन चंचल, हठीला बलवान और 'दृढ़' है। वायु के समान अर्थात् हवा को गठरी बाँधने के समान इसका निग्रह करना मुझे अत्यंत दुष्कर दिखता है।

श्री कृष्ण अर्जुन की वास्तविक परिस्थिति एवं कठिनाइयों को अनुभव करके निम्न प्रकार संबोधन करते हैं-

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥35॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्रावृत इति मे मतिः।

वश्यात्मना तु यतता शक्याऽवाप्तुमुपायतः॥36॥

है महाबाहु अर्जुन! इसमें संदेह नहीं, कि मन चंचल है और उसका निग्रह करना कठिन है, परन्तु है कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य से वह स्वाधीन किया जा सकता है। मेरे मत में जिसका अन्तःकरण काबू में नहीं, उसको (इस साम्यबुद्धि

रूप) योग का प्राप्त होना कठिन है, किन्तु अन्तःकरण को काबू में रखकर प्रयत्न करते रहने पर, उपाय से (इस योग का) प्राप्त होना संभव है।

जैसे जल स्वभावतः तरल एवं निम्नगामी है उसी प्रकार मन भी निम्नगामी है। मन की प्रवृत्ति विषय, कषाय में, राग-द्वेष में, राग-रंग में होना सहज-सरल है। जैसे जल को घन या ऊर्ध्वगामी बनाना श्रम साध्य एवं समय साध्य है, उसी प्रकार मन को निर्मल एवं स्थिर करना श्रम साध्य एवं समय साध्य है। जब जल तरल रहता है तब जल स्वाभाविक रूप से अधोगमन करता है परन्तु जब घन तुषार रूप परिणमन करता है तब जल अधोगमन नहीं करता है। उसी प्रकार मन, ज्ञान, वैराग्य, संयम, मनन-चिंतन, अनुप्रेक्षा अभ्यास के बल से दृढ़ घनीभूत हो जाता है। तब मन अधोगामी (विषय कषायों की ओर प्रवृत्ति करना) चल (अस्थिर, क्षुभित, अशांत, व्यथित) नहीं रहता है। मन को निर्मल, स्थिर, शांत बनाना विश्व का सर्वश्रेष्ठ एवं सबसे क्लिष्ट कार्य है। मन चंचल होने का कारण राग-द्वेष है एवं मन स्थिर होने का कारण राग-द्वेष की निवृत्ति है।

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम्।

स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः॥३५॥ (समाधि तंत्र)

जिस पुरुष का मन रूपी जल राग-द्वेष, मोह, मद, क्रोध, लोभ, माया आदि की लहरों से चंचल नहीं है वह मनुष्य अपने आत्मा के वास्तविक स्वरूप को अपने निर्मल मन में देख लेता है। अन्य मनुष्य उस आत्मा के स्वरूप को नहीं देख पाता।

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः।

धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः॥३६॥

मोह मिथ्यात्व और राग-द्वेष आदि के क्षोभ से रहित मन आत्मा का स्वभाव है और मोह तथा राग-द्वेष से व्याकुल मन आत्मा की भ्रान्ति यानि भ्रम है। इसलिये राग-द्वेष-मोह से रहित शुद्ध मन बनाना चाहिए, राग-द्वेष-मोह आदि दुर्भावों से मन को मलीन नहीं करना चाहिए।

अविद्याभ्यास संस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।

तदैव ज्ञान संस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते॥३७॥

मन अज्ञान के अभ्यास के संस्कारों द्वारा अपने वश में न रहकर इन्द्रियों के विषय भोगों में फँस जाता है वही मन आत्मा और शरीर के भेद विज्ञान के संस्कारों से अपने आत्म स्वरूप में ठहर जाता है।

आत्म संवित्ति का फल-विरक्ति

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्वमुत्तमम्।

तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।। (37)

As greater and greater progress is made in the realigation of the glorious self, so is lessened, more and more, the liking for even those objects of pleasure which may be obtained with ease.

“शमसुखशीलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः।

स्थलमपि दहाति झषाणां किमङ्ग पुनरङ्गमाराः।।”

पुनः शिष्य शंका करता है कि-आत्म स्वरूप का अभ्यास कैसे करना चाहिए? हे भगवान्! आपने जो लक्षण कहा है उस लक्षणरूप संवित्ति में प्रवर्तन किस उपाय से योगीजन करते हैं और उसे जानते हैं? आचार्य देव कहते हैं कि-हे धीमान् शिष्य! उसका वर्णन कर रहा हूँ उसे तुम सुनो-

जैसे-जैसे विशुद्ध आत्म स्वरूप के अभिमुख योगीजन गमन करते हैं अर्थात् आत्म स्वरूप में लीन होकर उसकी अनुभूति करते हैं वैसे-वैसे सुलभ भी रमणीय इन्द्रिय जनित भोग में बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है। महासुख की उपलब्धि होने पर अल्प सुख के कारण का अनादर लोक में भी दिखाई देता है। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है-

जिस प्रकार जल रहित स्थल भाग भी मछली को जलाता है तब अग्नि की बात ही क्या है? अर्थात् अग्नि से तो मछली जलेगी ही, मृत्यु को प्राप्त कर लेगी। उसी प्रकार जिसका चित्त समता रूपी सुख से सम्पन्न है उन्हें भोजन लेने पर भी द्वेष होता है अर्थात् भोजन में भी आसक्ति नहीं होती है। तब उन्हें कामभोग में कैसे द्वेष नहीं होगा? अर्थात् निश्चय से विरक्ति होगी।

समीक्षा-कामभोग कर्मजनित वैभाविक भाव होने के कारण जितने-जितने अंश में आत्मा का स्वाभाविक भाव स्वरूप आत्मनुभूति प्रगट होती जाएगी उतने-उतने अंश में कामभोग से विरक्ति होती जाएगी। जिस प्रकार की जितने-जितने अंश में प्रकाश होता जाता है उतने-उतने अंश में अंधेरा दूर होता जाता है। घनांधकार में भी जब दीपक प्रज्वलित होता है तब भी प्रकाश के अनुपात से अंधकार दूर होता है उसी प्रकार सुलभ भी प्रचुर भोगरूपी अंधकार में वैराग्य रूपी आत्म-ज्योति प्रगट

होता हैं उतने अंश में भोग से विरक्ति हो जाती है। राजर्षि भृगु ने कहा भी है-

रम्य हर्म्यतलं न किं वसयते श्रव्यं न गेयादिकं
किं वा प्राणसमासमागम सुखं नैवधिकं प्रीयते।

किंतु भ्रान्तपतत्पतंगपवनव्यालोलदीपांकुर-

च्छयाचंचलमाकलय्य सकलं सन्तो वनान्तं गता॥55॥

क्या संत महात्माओं के रहने के लिए बड़े-बड़े राजप्रसाद न थे? क्या उनके सुनने के लिए अच्छे-अच्छे संगीत न थे। क्या प्राण के समान अत्यंत प्रिय स्त्रियों का समागम सुख उनको अधिक प्रीतिकर न था कि उन्होंने इस संसार को गिरते पतंग की हवा से हिली हुई दीपक की छाया के समान चंचल जानकर निर्जन वन में चला जाना ही श्रेयस्कर समझा।

साम्राज्यां कथमप्यवाप्य सुचिरात्संसारसारं पुनः।

त्यक्त्वैव यदि क्षितिश्चखराः प्राप्ताः श्रियं शाश्वतीम्॥

त्वं प्रागेव परिग्रहान् परिहर त्याज्यान् गृहीत्वापि ते।

मा भूत भौतिकमोदकव्यतिकरं संपाद्य हास्यास्पदम्॥40॥ आत्मानु.

जिस किसी प्रकार से संसार के सारभूत साम्राज्य (सार्वभौम राज्य) को चिरकाल में प्राप्त करके भी यदि चक्रवर्ती उसे छोड़ने के पश्चात् ही अविनश्वर मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त हुए हैं तो फिर तुम त्यागने के योग्य उन परिग्रहों (विषयों) को ग्रहण करने के पहिले ही छोड़ दो। इससे तुम परिव्राजक के लड्डू के समान विषयों का संपादन करके हँसी के पात्र न बन सकोगे।

अव्युच्छिन्नः सुखपरिकरैर्लालिता लोलरम्यैः।

श्यामाङ्गुलीनां नयनकमलैरचिता यौवनान्तम्॥

धन्योऽसि त्वं यदि तनुरियं लब्धबोधेर्मृगीभिः।

दग्धारण्ये स्थलकमलिनी शङ्क्यालोक्यते ते॥88॥

निरंतर प्राप्त होने वाली सुख-सामग्री से पालित और यौवन के मध्य में सुंदर स्त्रियों के चंचल एवं रमणीय नेत्र रूप कमलों से पूजित अर्थात् देखा गया ऐसा वह तेरा शरीर विवेक-ज्ञान के प्राप्त होने पर यदि जले हुए वन में हिरणीयों के द्वारा स्थल कमलिनी को आशंका से देखा जाता है तो तू धन्य है-प्रशंसा के योग्य है।

आत्म-संवित्ति एवं विरक्ति का संबंध

यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।

तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्वमुत्तमम्॥ (38)

As even those objects of pleasure which are easily obtainable become increasingly intolerable in the same measure does the glorious self come into one's enjoyment!

“विमकिमपरेणाकार्यकोलाहलेन,

स्वयमपि निभृतः सन्यश्य षणमासमेकम्।

हृदयसरसि पुसं पुद्गलाभिन्नधाम्नो,

ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः॥” (नाटक-समयसार)

विषय विरक्ति ही योग की स्व-आत्म-संवित्ति की सूचना देने वाली है, उसके अभाव से अर्थात् विषय विरक्ति के अभाव से आत्म-संवित्ति भी नहीं हो सकती है। विषय विरक्ति से आत्म-संवित्ति भी वृद्धि को प्राप्त हो जाती है। यथा-समयसार कलश में कहा भी है-

हे आत्मन्! तू बिना प्रयोजन के इस निष्फल कोलाहल से विरक्त हो और स्वयं में लीन होकर छह महीने पर्यंत इस चैतन्य स्वरूप आत्म स्वरूप का अवलोकन करो अर्थात् अनुभव करो ऐसा करने पर क्या पुद्गल से भिन्न चैतन्य-ज्योति स्वरूप आत्म-की प्राप्ति तेरे इस हृदय रूपी सरोवर में नहीं होगी! अर्थात् अवश्य होगी।

समीक्षा-जैसे-जैसे प्रकाश फैलता है वैसे-वैसे ही अंधकार दूर होता जाता है। इसी प्रकार जैसे-जैसे विषय विरक्ति होती है वैसे-वैसे आत्म संवित्ति की वृद्धि होती जाती है। क्योंकि विषय शक्ति और आत्म-संवित्ति परस्पर विरोध गुण है। विरोधी गुणों में से एक गुण की वृद्धि होने पर दूसरे विरोधी गुण की हानि होना स्वाभाविक है। यथा उष्णता एवं शीतलता परस्पर विरोधी गुण होने से उनमें से कोई एक गुण की वृद्धि होने पर दूसरे गुण की हानि होती है। इससे सिद्ध होता है कि जो मोक्ष सुख चाहता है उसे विषय-सुख त्याग करना आवश्यक है। अष्टावक्र गीता में भी कहा है-

पश्यभूतविकारांस्त्वं भूतमात्रान् यथार्थतः।

तत्क्षणाद्बन्धनिर्मुक्तः स्वरूपस्मो भविष्यसि॥१७॥

अब चैतन्य स्वरूप के साक्षात् करने का उपाय कहते हैं-

हे शिष्य! भूतविकार अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि को वास्तव में जड़ जो पंच महाभूत उनका विकार जान आत्म स्वरूप मत जान। यदि गुरु श्रुति और अनुभव से ऐसा निश्चय कर लेगा तो तत्काल ही संसार बंधन से मुक्त होकर शरीर आदि से विलक्षण जो आत्मा उस आत्म स्वरूप विषय स्थिति को प्राप्त होगा, क्योंकि शरीर आदि के विषय आत्म भिन्न जड़त्व आदि का ज्ञान होने पर इन शरीर आदि का साक्षी जो आत्मा सो शीघ्र ही जाना जाता है।

वासना एवं संसार इति सर्वा विमुञ्च ताः।

तत्यागोवासनात्यागात्स्थितिरद्यथातथा॥१८॥

इस प्रकार आत्मज्ञान होने पर आत्मज्ञान के विषय में निष्ठा होने के लिए वासना के त्याग करने का उपदेश कहते हैं-विषयों के विषय वासना होना ही संसार है, इस कारण हे शिष्य! उन संपूर्ण वासनाओं का त्यागकर, क्योंकि वासना के त्याग से आत्मनिष्ठा होने पर इस संसार का स्वयं त्याग हो जाता है और वासनाओं के त्याग होने पर भी संसार के विषय शरीर की स्थिति प्रारब्ध कर्मों के अनुसार रहती है।

विहारा वैरिणं काममर्थं चानखर्चं संकुलम्।

धर्ममध्येतयोर्हेतुं सर्वत्रानादरं कुरु॥ (१)

पूर्व विषयों के बिना भी संतोष रूप से वैराग्य का वर्णन किया, अब विषय तृष्णा के त्याग का गुरु उपदेश करते हैं-हे शिष्य! ज्ञान का शत्रु जो काम है, उसका त्याग कर और जिसके पैदा करने में रक्षा करने में तथा खर्च करने में दुःख होता है सर्वथा दुःखों से भरे हुए अर्थ कहिये धन का त्याग कर तथा काम और अर्थ दोनों का हेतु जो धर्म, उसका भी त्याग कर और तदनन्तर धर्म काम रूप त्रिवर्ग के हेतु जो सकाम कर्म उनके विषय आसक्ति का त्याग कर।

स्वप्नेन्द्राजालवत्पश्य दिनानी त्रीणि पंच वा।

मित्रक्षेत्रघनागारदारदायादिसम्पदः॥ (२)

इस प्रकार शिष्य शंका करता है कि-स्त्री, पुत्रादि और अनेक प्रकार के सुख देने वाले जो कर्म उनका किस प्रकार त्याग हो सकता है? तब गुरु कहते हैं कि हे शिष्य! तीन अथवा पाँच दिन रहने वाले मित्र, क्षेत्र, धन, स्थान, स्त्री और कुटुम्ब

आदि संपत्तियों को स्वप्न और इंद्रजाल के समान अनित्य जान।

यत्रयत्र भवेतृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै।

प्रौढवैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णाः सुखी भव।। (3)

अब यह वर्णन करते हैं कि, संपूर्ण काम्य कर्मों में अनादर करना रूप वैराग्य ही मोक्ष रूप पुरुषार्थ का कारण है, जहाँ-जहाँ विषयों की विशेष तृष्णा होती है वहाँ ही संसार जान, क्योंकि विषयों की तृष्णा ही कर्मों के द्वारा संसार का हेतु होती, इस कारण दृढ़ वैराग्य का अवलंबन करके अप्राप्त विषयों में इच्छा रहित होकर आत्मज्ञान की निष्ठा करके सुखी हो।

तृष्णामात्रात्म को बन्धस्तन्नाशोमोक्षउच्यते।

भवसंसक्तिमात्रेण प्राप्ति तुष्टिर्मुहुर्मुहः।। (4)

उपरोक्त विषय को अन्य रीति से कहते हैं-हे शिष्य! तृष्णा मात्र ही बड़ा भारी बंधन है और उस तृष्णा मात्र का त्याग ही मोक्ष कहलाता है, क्योंकि संसार के पीछे आसक्ति का त्याग करके बारंबार आत्म ज्ञान से उत्पन्न हुआ संतोष ही मोक्ष कहलाता है।

आत्म-संवित्तवान् का लक्षण- 1

निशामयति निःशेषमिन्द्रजोलोपमं जगत्।

स्पृहयत्यात्मलाभाय, गत्वान्यत्रानुत्पद्यते।। (39)

The seeker of the self regards the whole world as a product of illusion and is moved by the desire to atting to self realigation. If he ever becomes entangled in anything else he repents of it!

स्वाआत्मा संपत्ति की वृद्धि होने पर जो चिह्न प्रकट होते हैं उसे हे शिष्य तुम सुनो-

योगी शब्द अंतः दीपक होने के कारण उसे सर्वत्र जोड़ना चाहिए। जो स्व-आत्म-संवित्ति के रसिक/ध्याता है वह संपूर्ण चराचर बाह्य वस्तु को उपेक्षा रूप से देखता है। उसे हेय, उपादेय, ग्रहणीय एवं तेजनीय का ज्ञान होने के कारण इन्द्रजालियाँ (जादूगर) के द्वारा प्रदर्शित सर्प व हार के समान समस्त सांसारिक वस्तु प्रतिभाषित होती है। इसलिए वह संसार को इन्द्रजाल के समान अवास्तविक मानकर चिदानंद स्वरूप स्व-आत्म संवित्ति को चाहता है तथा स्व-आत्मा के अतिरिक्त किसी वस्तु में

स्व-चित्त की प्रवृत्ति पूर्व संस्कार वश हो जाती है तब वह पश्चाताप करता है। वह दुःखी होकर सोचता है कि हाय मेरे से यह अनात्म कार्य कैसे हो गया।

आत्म-संवित्तिवान् का लक्षण-2

इच्छत्येकान्तसंवासं, निर्जनं जनितादरः।

निजकार्यवशात्किञ्चिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम्॥ (40)

The Seeker after the self longs for solitude, preferring disraciation with men; if he has to speak to men for a purpose of his own, he puts it out of his mind as soon as it is said!

“गुरुपदेशमासाद्य, समभ्यस्यन्नानारतम्।

धारवासौष्टवाध्यान प्रत्ययानपि पश्यति॥”

आत्म-साधक आत्म-साधना के लिए स्वभाव से निर्जन गिरी, गुहा आदि में गुरु आदि के साथ रहने की अभिलाषा करता है और वहाँ भी रहकर जन-मनोरंजन कार्य, चमत्कार पूर्ण मंत्रादि प्रयोग तथा अनावश्यक वार्तालाप से निवृत्त होने का प्रयत्न करता है। सामान्य जन स्वार्थ वशात् संसारी लाभ-अलाभ संबंधी प्रश्न करते हैं जिससे साधक को साधना में बाधा पहुँचती है। इसीलिये जनसम्पर्क से रहित एकांत में साधना करने के लिए कहा गया है। लौकिक चमत्कार ध्यान के लिए, आत्म-साधना के लिए बाधक है। तत्त्वानुशासन में कहा भी है-

गुरु के उपदेशानुसार सतत् आत्मस्वरूप का अभ्यास करने वाला ध्यानी धारणा, सौष्टव आदि ध्यान के प्रतियों का साक्षात् प्रतिक्षक करने लगता है अर्थात् जिस समय आत्मलीनता होती है उस समय ज्ञान की प्रकृष्टता के कारण उसे संसार का कोई भी पदार्थ अदृश्य प्रतीत नहीं होता है वह अपने आत्मानंद में स्थिर रहता है।

समीक्षा-प्राथमिक साधक के मन की चंचलता के लिए बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी निमित्त बनते हैं। उन बाह्य निमित्तों से निवृत्त होने पर तज्जन्य चंचलता भी दूर होती है। कहा भी है-

विकीर्यते मनः सद्यः स्थानदोषेण देहिनाम्।

तदेव स्वस्थतां धत्ते स्थानमासाद्य बन्धुकरम्॥122॥

स्थान के दोष से प्राणियों का मन शीघ्र ही विकार को प्राप्त होता है तथा वही मन रमणीय स्थान को पाकर स्वस्थता को धारण करता है-राग-द्वेष से रहित होकर आत्मस्वरूप में अवस्थित होता है।

तब ये पापी मन पावन होगा!

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : झिलमिल सितारों का आंगन.....)

तब (ही) ये पापी मन पावन होगा...जब राग-द्वेष-मोह त्यागेगा...

सनम्र सत्यग्राही पावन होगा...उदार-सहिष्णु-सरल होगा...तब (ही) ये...(स्थायी)...

ईर्ष्या तृष्णा घृणा को भी त्याग करेगा...अपेक्षा-उपेक्षा-प्रतीक्षा त्यागेगा...

वैर विरोध व द्वन्द्व त्यागेगा...समता-शान्ति प्राप्त करेगा...

परनिन्दा अपमान चिन्ता छोड़ेगा...आत्म विश्लेषण से स्व को शुद्ध करेगा...

महान् लक्ष्य उच्च भाव धरेगा...स्व-पर-विश्व कल्याण सोचेगा...(1)...

पर शोषण पर अहित त्यागेगा...दान दया व परोपकार करेगा...

फैशन-व्यसन-आडम्बर त्यागेगा...ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि छोड़ेगा...

आत्मविश्वासी विवेकी सदाचारी होगा...स्व-आत्म वैभव/(प्राप्ति) का लक्ष्य धरेगा...

मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ (भाव) धरेगा...संकल्प-विकल्प-संकलेश त्यागेगा...(2)...

अन्यथा ये पापी मन पावन न होगा...भौतिक सत्ता-संपत्ति से भी न होगा...

पढ़ाई-प्रसिद्धि व धार्मिक ढोंग से...पावन न होगा मन अन्य काम से...

सर्वज्ञ देव द्वारा ज्ञात (ये) परम सत्य...अनुभवगम्य मेरा यथार्थ सत्य...

मनोवैज्ञानिक द्वारा प्रयोग सत्य... 'कनक' को मान्य ये परम सत्य...(3)...

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 04.03.2016, मध्याह्न 2.20